आगम सम्पादन की यात्रा

आगममनीषी मुनि दुलहराज

आगम-सम्पादन की यात्रा

आगममनीषी मुनि दुलहराज

संपादक
शासनश्री मुनि राजेन्द्रकुमार

प्रकाशक : जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं-३४१३०६
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (०१५८१) २२२०८०/२२४६७१
ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

सौजन्य : पूज्य पिताजी डॉ. हंसराज और माताजी सावित्री देवी
की पावन स्मृति में
डॉ. लाजपत राय—श्रीमती इंद्रा राय
टेगौर नगर, लुधियाना

प्रथम संस्करण : मई २०११

मूल्य :१००/- (सौ रूपया मात्र)

मुद्रक : पायोराईट प्रिन्ट मीडिया प्रा. लि., उदयपुर फोन :०२९४-२४१८४८२

आशीर्वचन

'अनाश्रया न शोभन्ते, पण्डिता वनिता लताः'—संस्कृत साहित्य की प्राचीन मान्यता है कि पंडित, वनिता और लता—ये सब निराश्रित होकर शोभित नहीं होते। ये आश्रय के सहारे बढ़ते हैं, विकसित होते हैं। लताएं मौन हैं, अतः उनके लिए आज भी वह सत्य बदला नहीं है। वनिताएं स्वाश्रय होने को उत्सुक हैं और विश्व के कई अंचलों में हो चुकी हैं, आज पंडित भी पराश्रित नहीं हैं।

स्वाश्रित और पराश्रित ये सापेक्ष अभिव्यक्तियां हैं। परंपरागत आश्रय से मुक्त होने का अर्थ है पराश्रित न होना और नए आश्रय को स्वेच्छया स्वीकृत करने का अर्थ है स्वाश्रित होना। कोई भी स्वाश्रित ऐसा नहीं हैं जो पराश्रित न हो और कोई भी पराश्रित ऐसा नहीं है जो स्वाश्रित न हो।

आचार्यश्री तुलसी ने आगम-दोहन के कार्य में अनेक साधु-साध्वियों को व्यापृत और निष्णात किया है। उनका जीवन आगमाश्रित हो गया है। वे आगम के आश्रय के बिना शोभित नहीं होते। उनमें एक **मुनि दुलहराजजी** हैं। वे प्रारंभ से ही इस आगम-दोहन के कार्य में प्रवृत्त हैं। उन्होंने इसी कार्य से शक्ति अर्जित की है और इसी कार्य में उनका उपयोग किया है। शक्ति का अर्जन और उपयोग, फिर शक्ति का अर्जन और उपयोग—यह क्रम चलता रहता है।

पूज्यपाद ने लिखा है—

यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि।।
यथा यथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।।

जैसे-जैसे उत्तम तत्त्व उपलब्ध होता है वैसे-वैसे विषयों के प्रति अनासक्ति

होती है और जैसे-जैसे विषयों के प्रति अनासक्ति होती है वैसे-वैसे उत्तम तत्त्व उपलब्ध होता है। यह विकास का क्रम हर वस्तु पर घटित होता है। आगम-दोहन के कार्य से बहुश्रुतता मिलती है और बहुश्रुतता से आगम-दोहन के कार्य को गति मिलती है।

सामने कोई निश्चित लक्ष्य होता है तो अनायास ही आदमी बहुत जान लेता है। उस निमित्त के बिना उतना जानने का अवसर नहीं आता। प्रस्तुत पुस्तक में जो विषयों की विविधता है, उसका निमित्त आगम-दोहन है। इस कार्य के लिए धर्म, दर्शन, राजनीति, आयुर्वेद, नीति आदि-आदि शाखाओं का अध्ययन अपेक्षित होता है। उसी अध्ययन-ज्योति के कुछ स्फुलिंग प्रस्तुत पुस्तक में हैं। वे समय और चिंतन की विभिन्न धाराओं में अभिव्यक्त हुए हैं। लेखक ने सहज सरल शैली और भाषा में इन्हें अभिव्यक्ति दी है।

प्रस्तुत पुस्तक से पाठक को रुचि-परिष्कार और ज्ञान-परिवर्धन दोनों ही प्राप्त होंगे।

रायपुर — **—मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ)**

१५ सितम्बर १९७०

शुभाशंसा

गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञ के जीवनकाल का एक महत्त्वपूर्ण अवदान है—जैन आगमों का सम्पादन और अनुवादन आदि कार्य। यह कार्य वि.सं. २०१२ में शुरू हुआ था और आज तक चल रहा है। इस कार्य में अनेक साधु-साध्वियों, समणियों और श्रावकों का सहयोग रहा है। उनमें एक उल्लेख्य नाम है—'**आगममनीषी मुनि दुलहराजजी स्वामी।**' वे लम्बे काल से इस महायज्ञ में अपनी आहुतियां देते रहे हैं। उनके द्वारा समय-समय पर लिखे गए निबन्धों से गुंफित प्रस्तुत पुस्तक है—'**आगम-सम्पादन की यात्रा।**'

यह पुस्तक अतीत के आलोक में आगम-सम्पादन के संदर्भ में एक सुन्दर एवं तथ्यपरक ऐतिहासिक जानकारी देती है। इसके सम्पादन में शासनश्री मुनि राजेन्द्रकुमारजी स्वामी का श्रम मुखर हो रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक से पाठकों को गणाधिपति गुरुदेव तुलसी के वाचनाप्रमुखत्व और आचार्य महाप्रज्ञ के प्रधान संपादकत्व में निष्पादित आगम-सम्पादन के बारे में विशद जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

नसीराबाद **आचार्य महाश्रमण**

१४ मार्च २०११, सोमवार

अपनी बात

वि.सं. २००५ (सन् १९४८), कार्तिक कृष्णा अष्टमी। छापर में आचार्य तुलसी का पावस-प्रवास। यहां की पुण्यधरा पर मेरे जीवन में एक नया प्रभात उदित हुआ और मैं आचार्य तुलसी के करकमलों से दीक्षित हो गया। दीक्षा से पूर्व मेरे मन में एक संकल्प था कि मैं मुनिश्री नथमलजी की सेवा में रहूं, पर यह मेरे हाथ में नहीं था। एक धर्मसंघ के अनुशास्ता होने के कारण इसका निर्णय आचार्यवर को ही करना था। मेरे अज्ञात मन की वह चाह पूज्यवर के पास कैसे पहुंची, मैं नहीं जानता। किन्तु उस समय मैं विस्मयातिरेक से अभिभूत हो गया जब आचार्यवर ने मुझे मुनिश्री नथमलजी के पास रहने का निर्देश दिया। जाने-अनजाने मेरा वह मनोरथ सुफल हो गया और चित्त आनन्दविभोर हो गया।

दीक्षा के साथ ही मेरी विकास-यात्रा प्रारब्ध हो गई। गुरुदेव तुलसी का अनन्त उपकार और मुनिश्री नथमलजी की असीम करुणा ने मुझे विकास के अनेक आयाम प्रदान किए। मैंने बैंगलोर से इंगलिश मीडियम से दसवीं कक्षा पास की थी, इसलिए इंगलिश में बोलना और लिखना मेरे लिए सुगम था। जब कभी पूज्यपाद आचार्यवर के पास विदेशी अथवा अंग्रेजी विद्वान् आते तो आचार्यवर उनसे बात करने के लिए मुझे बुलाते। मैं इंगलिश से हिन्दी और हिन्दी से इंगलिश में अनुवाद का कार्य करता। इससे मेरा इंगलिश बोलने का अभ्यास बढ़ता चला गया। साथ में प्राकृत, संस्कृत और हिन्दी भाषा का भी अभ्यास चलता रहा।

वि.सं. २०११ की घटना है कि आचार्यवर पूना से नारायणगांव की ओर पाद-विहार कर रहे थे। एक दिन मध्यवर्ती गांव 'मंचर' में ठहरना हुआ। वहां जिस मकान मालिक के यहां विराजना हुआ वहां काफी पत्र-पत्रिकाएं आई हुई थीं। आचार्यश्री उनमें बौद्धपत्रिका धर्मदूत का अवलोकन कर रहे थे। उसमें त्रिपिटकों के सम्पादन की एक विस्तृत योजना थी। उसे देखकर तत्काल आचार्यवर

के अन्तःकरण में एक सिहरन पैदा हुई और आगम-सम्पादन की कल्पना मूर्त हो उठी। कल्पना ने चिन्तन-मनन का रूप लिया और वह कल्पना क्रियान्विति में परिणत हो गई। उस समय किसी ने यह नहीं सोचा था कि कल्पना का यह स्फुलिंग महाज्योति का रूप लेगा, इतने विशालस्तर पर आगम-दोहन होगा। ज्यों-ज्यों चरण आगे बढ़ते गए कार्य का रूप सामने आता चला गया। इस अर्थ में मैं सौभाग्यशाली बना कि आचार्य तुलसी ने मुझे भी इस महायज्ञ में अपनी श्रमबूंदों को सार्थक करने का अलभ्य अवसर दिया। तब से लेकर आज तक मैं आगम-सम्पादन के कार्य के साथ जुड़ा रहा। मैं जो भी कार्य करता अथवा आगमविषयक कोई नई जानकारी प्राप्त करता, सुनता उसे निबन्धरूप में गुंफित कर लेता। इस प्रकार लिखते-लिखते सहज और अनायास ही अनेक निबन्धों का संकलन हो गया। उनमें कुछ निबन्ध ऐतिहासिक तथ्य को प्रकट करने वाले हैं और कुछ तथ्यपरक हैं। कुछेक आगम-सम्पादन में आने वाली समस्याओं से संबंधित हैं तो कुछ तत्कालीन सभ्यता-संस्कृति के परिचायक हैं। पहले ये निबन्ध **'शब्दों की वेदी अनुभव का दीप'** नामक पुस्तक में संदृब्ध थे। कुछेक नए निबन्ध यत्र-तत्र पत्र-पत्रिकाओं में विकीर्ण थे। उन सबको एकाकार कर एक स्वतंत्र पुस्तक के रूप में एक नया आकार देने की योजना बनी। वह प्रस्तुत पुस्तक है—**'आगम-सम्पादन की यात्रा'**।

मैं गणाधिपति गुरुदेव तुलसी और प्रज्ञापुरुष आचार्य महाप्रज्ञ के महान् अवदानों और अनन्त उपकारों को आत्मसात् करता हुआ आचार्य महाश्रमण के प्रति श्रद्धाप्रणत हूं। उनके हस्तावलम्बन से मैंने बहुत कुछ पाया है और पा रहा हूं। मैं मुनि राजेन्द्रकुमारजी और मुनि जितेन्द्रकुमारजी के सहयोग को भी कभी नहीं भूल सकता। वे दोनों मेरी सेवा के साथ-साथ साहित्य-सम्पादन भी कर रहे हैं, यह मेरे लिए अन्तस्तोष का विषय है। मैं चाहता हूं कि दोनों मुनि इस दिशा में कीर्तिमान स्थापित करें। उन्होंने मेरे इस साहित्य कार्य को संभाल कर मुझे निर्भार बना दिया।

प्रस्तुत पुस्तक आगम का कार्य करने वालों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी और अतीत के आलोक में सुधी पाठकों को नवीन दिशा प्रदान करेगी, इसी मंगलकामना के साथ............।

तेरापंथ भवन, श्रीडूंगरगढ़ **आगममनीषी मुनि दुलहराज**

१ दिसम्बर २०१०

सम्पादकीय

भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग एक हजार वर्षपर्यन्त श्रुत की परम्परा अविच्छिन्नरूप में प्रवहमान रही। कालान्तर में स्मृतिदौर्बल्य, परावर्तन की न्यूनता, धृति का ह्रास और परम्परा की व्यवच्छित्ति आदि कारणों से उसमें कमी आने लगी। श्रुत का अधिकांश भाग नष्ट होने लगा। जैनाचार्यों ने अवशिष्ट श्रुत को अक्षुण्ण और सुरक्षित रखने के लिए कुछ प्रयास किए। जो भी श्रुत न्यून या अधिक, त्रुटित या अत्रुटित स्मृति में था उसको व्यवस्थित संकलित किया गया। इसके लिए वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी (९८० या ९९३) में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में वल्लभी में एक प्रयास हुआ। देवर्द्धिगणी ने अपनी बुद्धि से उस सारे आगम की संयोजना कर उसे पुस्तकारूढ़ कर दिया।

वर्तमान में उपलब्ध आगम देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की वाचना के हैं। उसके पश्चात् कोई सर्वमान्य वाचना नहीं हुई।

देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के पश्चात् आगम-सम्पादन का गुरुतर और दुरूह दायित्व आचार्य तुलसी ने अपने ऊपर लिया, किसी की प्रेरणा से नहीं, अन्तःकरण की प्रेरणा से इस दायित्व को दायित्व समझा और अधिकांश धर्मसंघ को इस कार्य में नियोजित किया। इस महान् कार्य में बीस-तीस साधु-साध्वियां आचार्यश्री की प्रेरणा पाकर संलग्न बने। मुनिश्री नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) आगम-कार्य के दिशा-निर्देशक थे। उनके सान्निध्य में साधु-साध्वियों की पूरी टीम मनोयोगपूर्वक कार्य करती रही। प्रत्येक को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अथवा योग्यता के अनुसार कार्य सौंपा हुआ था और उसका सम्पूर्ण निरीक्षण कर रहे थे आचार्य तुलसी।

आगममनीषी मुनिश्री दुलहराजजी स्वामी आगम-कार्य में प्रारम्भ से लेकर आज तक सहयोगी-सहभागी रहे हैं। उन्होंने अपने जीवन में श्रुत की महान् उपासना की है। इसलिए आगममनीषी औपचारिक अलंकरण नहीं है। यह उनकी श्रम

की बूंदों से निष्पन्न अलंकरण है। अवस्था प्राप्त होने पर आज भी उनमें कार्य करने की दक्षता विद्यमान है। आगम-कार्य के साथ-साथ उन्होंने आचार्य महाप्रज्ञ की दो सौ से अधिक पुस्तकों का भी सम्पादन किया है। उनकी श्रमशीलता का उल्लेख करते हुए आचार्य महाप्रज्ञ ने एक बार मुनिश्री के लिए कहा था—'साहित्य-जगत् में मुझे प्रकाश में लाने का श्रेय मुनि दुलहराजजी को जाता है। यदि वे न होते तो संभव है कि मेरा साहित्य इस प्रकार बाहर आता या नहीं।'

ऐसे श्रमशील मुनि ने आगम-कार्य करने वालों के लिए एक 'गाइड बुक' प्रस्तुत की है—'**आगम-सम्पादन की यात्रा**'। इसमें पैंतीस निबन्धों को समाविष्ट किया गया है। जब से आगम का कार्य प्रारम्भ हुआ तब से उन्होंने जो कुछ जाना, पढ़ा या सुना उसको अपनी लेखनी से निबद्ध कर पाठकों के सामने परोसा है। मुझे आशा है कि आगमों पर रिसर्च करने वालों के लिए प्रस्तुत पुस्तक अतीत के आलोक में अच्छी-खासी जानकारी देगी और भविष्य में उनका पथ प्रदर्शन करेगी, इसी मंगलभावना के साथ.........।

तेरापंथ भवन, श्रीडूंगरगढ़ **—मुनि राजेन्द्रकुमार**

५ दिसम्बर २०१०

अनुक्रम

१.	आगम-सम्पादन की कल्पना	१
२.	आगम-सम्पादन की घोषणा	२
३.	आगम-सम्पादन का प्रारंभिक इतिहास	२
४.	आगम-शोध-कार्य : एक पर्यवेक्षण	९
५.	पाठ-संशोधन : एक मौलिक कार्य	१४
६.	शोध-कार्य में आनेवाली समस्याएं और समाधान	१६
७.	पाठ-परिवर्तन तथा अर्थ-विस्मृति	१९
८.	आगमपाठ-शोधन : कुछ मीमांस्य स्थल	२२
९.	आगम के कुछ विमर्शनीय शब्द	२७
१०.	दक्षिण यात्रा और आगम-सम्पादन	३०
११.	प्राकृत भाषा और आगम-सम्पादन पर डॉ. उपाध्ये के विचार	३४
१२.	आगम-कार्य पर डॉ. रोथ के विचार	३८
१३.	वैभार पर्वत : आचार्य तुलसी का संकल्प	३९
१४.	आगम-कार्य : नए नए उन्मेष	४२
१५.	आगम-कार्य की दिशा में	४४
१६.	सामूहिक वाचना का आह्वान	४७
१७.	आगम-कार्य : विद्वानों से परामर्श	५०
१८.	आगम-सम्पादन कार्य : विद्वानों की दृष्टि में	५५
१९.	आगमों के व्याख्यात्मक ग्रन्थ	६२
२०.	व्याख्या-ग्रन्थों का अध्ययन क्यों ?	७४

२१. दशवैकालिक : कार्य-पद्धति ७७
२२. दशवैकालिक : इतिहास और परम्परा ८२
२३. दशवैकालिक के अर्थ और ऐतिहासिक तथ्य ८७
२४. दशवैकालिक का पांचवां अध्ययन : एक दृष्टि ९५
२५. दशवैकालिक में भिक्षु के लक्षण १०२
२६. परम्पराओं के वाहक कुछ शब्द और उनकी मीमांसा १०५
२७. आगम-अध्ययन की दिशा १०९
२८. आगमकालीन सभ्यता और संस्कृति ११३
२९. उत्तराध्ययन के तीन टीकाकार ११८
३०. उत्तराध्ययनगत देश, नगर और ग्रामों का परिचय १२६
३१. उत्तराध्ययन और परीषह १३७
३२. आगमों में विनय १४९
३३. आगमों में विगयविवेक १५४
३४. सूत्रकृतांग के आधार पर सभ्यता और संस्कृति १५८
३५. निशीथ भाष्य के कुछ शब्द-चित्र १७१

१. आगम-सम्पादन की कल्पना

सत्य को खोजने और सत्य को जानने की मनोवृत्ति सदा से रही है। मनुष्य ने अनावृत को आवृत करने का प्रयत्न आवश्यकता के लिए ही नहीं किया अपितु कुछ नया करने की उत्कण्ठा ने भी उस दिशा में प्रेरित किया। कभी-कभी कुछ निमित्त ऐसे मिलते हैं, जो सत्यशोध की दिशा में व्यक्ति को गतिमान बना देते हैं। ऐसा ही एक प्रेरक प्रसंग आचार्य तुलसी के जीवन में निमित्त बना।

आचार्यश्री तुलसी अपने श्वेत संघ के साथ मुंबई में चतुर्मास और मर्यादा-महोत्सव सम्पन्नकर खानदेश की यात्रा पर चल पड़े। पूना में अल्पकालीन प्रवास कर नारायण गांव की ओर जाते हुए एक दिन 'मंचर' गांव में विश्राम किया। वि. सं. २०११ फाल्गुन शुक्ला दसमी का सुहावना दिन था। जिस मकान में आचार्यश्री ठहरे हुए थे उस मकान मालिक के वहां बौद्धपत्र 'धर्मदूत' को देखकर आचार्यश्री के मन में आगमों पर कुछ कार्य करने की कल्पना उठी। आपने मुनिश्री नथमलजी को बुलाकर कहा—'जैनागमों के हिन्दी अनुवाद के लिए अनेक व्यक्ति मुझसे कहते रहते हैं। मेरी स्वयं की इच्छा भी है। पर एक ओर यात्रा, दूसरी ओर इतना गुरुतर कार्य, यह कैसे बने?' आचार्यश्री के हृदय को स्पर्श करते हुए मुनिश्री नथमलजी ने कहा—'यह कार्य कठिन बात नहीं है। यदि आचार्यश्री का ध्यान अभी अभी आगम-शोध का कार्य आरम्भ करने का हो तो निश्चय हो जाना चाहिए। कार्यकर्ता स्वयं पैदा होंगे। सामग्री अपने आप जुटेगी। आपके संकल्प को फलने में सन्देह नहीं है।'

इस आत्म-विश्वास की वाणी को सुनकर आचार्यश्री का संकल्प और बलवान् बना और उसी दिन यह निश्चय कर लिया कि आगम-कार्य को प्रारंभ करना है।

२. आगम-संपादन की घोषणा

वि. सं. २०११, चैत्र शुक्ला नवमी का पावन दिन। आचार्यश्री तुलसी अपने संघ के साथ दौलताबाद से विहार कर औरंगाबाद (महाराष्ट्र-खानदेश) पधारे। नागरिकों ने आपका हार्दिक अभिनन्दन किया।

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, महावीर जयन्ती के शुभ अवसर पर चतुर्विध धर्मसंघ की उपस्थिति में आचार्यश्री ने घोषणा की—'इन आगामी पांच वर्षों में जैनागम शोधकार्य हमारे अनेक लक्ष्यों में एक प्रमुख लक्ष्य बना रहेगा। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए सभी साधु-साध्वियों को एकजुट होकर कार्य करना है।'

उपस्थित परिषद् ने घोषणा का हार्दिक स्वागत किया। अनेक साधु इसमें यथायोग्य शक्तिदान और बुद्धिदान देने के लिए उत्कंठित हुए। साध्वियों ने भी इसमें यथायोग्य कार्य करने का संकल्प किया।

३. आगम-संपादन का प्रारंभिक इतिहास

आचार्यश्री तुलसी एक महान् परिव्राजक हैं। 'चरैवेति चरैवेति' उनकी जीवनचर्या है। औरंगाबाद से विहार कर आचार्यश्री नसीराबाद, जलगांव होते हुए ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी को 'फागणा' पधारे। यह गांव धुलिया से दो कोस की दूरी पर है। वहां श्रीचंदजी रामपुरिया दर्शन करने आए। जैनागम-संपादन की चर्चा चली। कार्य का प्रारंभ कहां से किया जाए, यह विचार सामने आया। अनेक विचार सामने थे। श्रीचंदजी रामपुरिया ने सबसे पहले जैनागम-शब्दकोश तैयार करने का सुझाव रखा। आचार्यश्री को यह उचित लगा। आगमों का हिन्दी अनुवाद और शब्दकोश—ये दो कार्य प्रारंभणीय थे। इन दोनों कार्यों के लिए हमने काफी सामग्री एकत्रित की। एक समस्या हमारे सामने उपस्थित हुई। कोश-निर्माण के विषय में कई विकल्प खड़े हुए। मन में विचार आया कि जब पूर्व में अनेक शब्दकोश विद्यमान हैं तब नए शब्दकोश के निर्माण के लिए समय और शक्ति को व्यर्थ क्यों लगाया जाए? हमारे सामने चार शब्दकोश विद्यमान थे—

१. श्रीराजेन्द्रसूरि का अभिधान राजेन्द्रकोश।

२. मुनि रत्नचन्द्रजी का अधमागधी शब्दकोश।

३. अल्पपरिचित जैनागम शब्दकोश।

४. पंडित हरगोविन्ददास का पाइयसद्दमहण्णवो।

हमने इनको देखा। इनको देखकर नए शब्दकोश का निर्माण अनावश्यक लगने लगा।

मुनिश्री नथमलजी ने अपने ये विचार आचार्यश्री के सामने रखे। चिन्तन चला। सोचा जाने लगा कि क्या कोश-निर्माण के विचार को छोड़ दिया जाए या उसे नया रूप दिया जाए? कई दिनों तक विचार-मंथन होता रहा। आखिर यह निश्चय हुआ कि कोश-निर्माण का कार्य स्थगित न किया जाए। उसमें कुछ विशेषताओं को जोड़कर उसकी उपयोगिता को बढ़ा दिया जाए। यह विचार स्थिर हुआ। स्थिरता का संभाव्य रूप है—

१. पहले बने शब्दकोशों में उद्धरण-स्थलों के एक, दो या कुछेक प्रमाण हैं। इस शब्दकोश में प्रत्येक शब्द के सभी प्रमाण रहेंगे। एक शब्द आगमों में जितने स्थलों में प्रयुक्त हुआ है, उसके उतने ही उद्धरण-स्थलों का निर्देश रहेगा।

२. प्रत्येक सूत्र का शब्दकोश तत्-तत् आगम के साथ रहेगा। प्रत्येक शब्द की संस्कृत-छाया भी रहेगी। इस स्वतंत्र शब्दकोश में वे सभी शब्द नहीं लिए जाएंगे। उसमें पारिभाषिक या विशेष शब्द ही लिए जाएंगे।

३. यह कोश कई वर्गों, सूत्रों और सूक्तों में विभक्त होगा। उनमें एक वर्ग पारिभाषिक या विशेष शब्दों का रहेगा। शेष शब्दों का विषयानुपात से वर्गीकरण किया जाएगा। इस प्रकार एक विषय के शब्द एक ही वर्ग में समन्वित रूप से मिल सकेंगे। उनके आधार पर उनके प्रकरण भी सरलता-पूर्वक खोजे जा सकेंगे।

४. इस शब्दकोश का एक विभाग विषयों के वर्गीकरण का होगा। यह शब्दपरक न होकर अर्थपरक होगा। आगमों में जहां कहीं भी अहिंसा का प्रकरण है, उसका प्रमाण-निर्देश या आधार-स्थलों का सूचन अहिंसा सूक्त में मिल जाएगा। अहिंसा शब्द का प्रयोग हुआ है या नहीं, इसकी अपेक्षा नहीं होगी, इनमें भावना का ही प्राधान्य होगा। इस प्रकार इस कोश के तीन प्रमुख भाग होंगे—

१. पारिभाषिक (विशेष) शब्द-संग्रह।

२. एक विषय के शब्दों का वर्गीकरण।

३. विषयों का वर्गीकरण।

एक विचार सामने आया कि उद्धरण-स्थलों के सभी प्रमाण देने से कोश का कलेवर बहुत अधिक बढ़ जाएगा। पर हमें लगा कि यह वृद्धि अन्वेषण की दृष्टि से बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगी। इन सभी दृष्टियों को आधार मानकर कोश-निर्माण की रेखाएं सुस्थिर की गईं।

महाराष्ट्र की यात्रा चल रही थी। धुलिया में आचार्यश्री ने मध्य-भारत की यात्रा का निर्णय दे दिया। चतुर्मास में एक महीना बाकी था। मध्य-भारत की यात्रा प्रारंभ हुई। महू होते हुए इन्दौर आगमन हुआ। आचार्यश्री ने उज्जैन में चतुर्मास बिताने का निश्चय कर डाला। लोगों को आश्चर्य हुआ। अच्छे-अच्छे लोगों ने कहा—यह क्या? आचार्यश्री इन्दौर शहर को छोड़ कर उज्जैन जा रहे हैं। ऐसा निर्णय क्यों हुआ? कुछ दिनों तक निर्णय पर पुनः विचार करने की प्रार्थनाओं का तांता लगा रहा।

आचार्यश्री जनता की मांग का औचित्य समझते थे, पर निर्णय के पीछे भी बड़ा औचित्य था, जो उस समय लोगों की समझ से परे था। आचार्यश्री को जैनागम-शोध की योजना को कार्यरूप देना था। इन्दौर में कार्य-व्यस्तता के कारण समय की अल्पता निश्चित थी। उज्जैन में यह बात नहीं थी। आचार्यश्री देवास होते हुए उज्जैन पधारे।

चतुर्मास प्रारंभ हुआ। शोध-कार्य के लिए पुस्तकें जुटने लगीं। वहां के अनेक पुस्तकालयों से हमने पुस्तकें उपलब्ध कीं। सामग्री जुट गई। आचार्यश्री ने कहा—'सबसे पहले हमें बत्तीस आगमों के शब्दों का 'अनुक्रम' तैयार करना है।' आचार्यश्री ने इस कार्य के नियोजन के लिए मुनिश्री नथमलजी को आदेश दिया। मुनिश्री ने एक सुनियोजित रूपरेखा आचार्यश्री के समक्ष रखी और तदनुरूप कार्य प्रारंभ हो गया।

इसी बीच दूर-दूर से कार्य-निर्देशन की अज्ञात ध्वनि गूंजने लगी। कार्य को गति देने में यह भी एक शुभ संकेत था। आचार्यश्री ने यथायोग्य निर्देश दिए और बहिर्विहारी श्रमण भी इस कार्य में संलग्न हो गए।

वि. सं. २०१२ का चतुर्मास उज्जैन में था। उस वर्ष भाद्रपद दो थे।

पूरे पांच महीने का समय सामने था। आचार्यश्री के साथ रहने वाले प्रायः साधु-साध्वियां इसमें जुट गए और चतुर्मास के पूर्ण होते-होते लगभग बत्तीस आगमों के शब्द अनुक्रम से संकलित हो गए।

इस शब्द-संकलना में कई साधु-साध्वियां निर्देशक और निर्देशिका के रूप में कार्य करते थे और शेष उनके सहयोगी के रूप में। उनकी तालिका इस प्रकार है—

साधुओं द्वारा किया गया कार्य

१. स्थानांग, उत्तराध्ययन

निर्देशक—स्वर्गीय मुनिश्री चौथमलजी (जावद)।

सहयोगी—मुनिश्री सोहनलालजी (श्रीडूंगरगढ़), मुनि सुमेरमलजी 'सुमन', मुनिश्री रूपचन्द्रजी (गणबहिष्कृत), मुनिश्री मणिलालजी।

कार्यारम्भ—सं. २०१२, प्रथम भाद्रपद शुक्ला १३।

सम्पूर्ति—सं. २०१२, कार्तिक अमावस्या।

२. प्रज्ञापना

निर्देशक—मुनिश्री सोहनलालजी (चूरू)।

सहयोगी—मुनिश्री छत्रमलजी, मुनिश्री हनुमानमलजी (सरदारशहर), मुनिश्री नगराजजी (चूरू)।

सम्पूर्ति—मार्गशीर्ष सरदारशहर में।

सम्पूर्ण शब्दानुक्रम की साफ प्रतिलिपि मुनिश्री मानमलजी (श्रीडूंगरगढ़) तथा मुनिश्री चम्पालालजी (सरदारशहर) ने की।

३. भगवती, दशाश्रुतस्कन्ध, नन्दी

निर्देशक—मुनिश्री दुलीचंदजी 'दिनकर'।

सहयोगी—मुनिश्री हंसराजजी, मुनिश्री श्रीचंद्रजी 'कमल', मुनिश्री गुलाबचंदजी 'निर्मोही'।

कार्यारम्भ—सं. २०१२, श्रावण शुक्ला ४।

सम्पूर्ति—कार्तिक शुक्ला १२।

४. आचारांग (प्रथम)

निर्देशक—मुनिश्री सुखलालजी (सुजानगढ़)।

सहयोगी—मुनिश्री चम्पालालजी (लाडनूं), मुनिश्री हीरालालजी, मुनिश्री बसन्तीलालजी (गणबाहिर)।

कार्यारम्भ—सं. २०१२, श्रावण शुक्ला १।

सम्पूर्ति—श्रावण शुक्ला पूर्णिमा।

५. जीवाभिगम, निशीथ, पिण्डनिर्युक्ति

निर्देशक—मुनिश्री राजकरणजी।

सहयोगी—मुनिश्री सोहनलालजी (चाड़वास), मुनिश्री मांगीलालजी।

६. राजप्रश्नीय

निर्देशक—मुनिश्री बुद्धमल्लजी।

सहयोगी—मुनिश्री रिद्धकरणजी (श्रीडूंगरगढ़), मुनिश्री मोहनलालजी 'शार्दूल', मुनिश्री मधुकरजी।

सम्पूर्ति—सं. २०१३, दिल्ली चतुर्मास में।

७. आवश्यक

मुनिश्री दुलहराजजी।

८. आगम-विषय-वर्गीकरण

आचारांग आदि अनेक आगमों के विषयों का वर्गीकरण तैयार किया गया था। इसमें मुख्यतः मुनिश्री सागरमलजी 'श्रमण', मुनिश्री सुखलालजी (सुजानगढ़) और मुनिश्री दुलहराजजी कार्य करते थे।

साध्वियों द्वारा किया गया कार्य

१. सूत्रकृतांग, समवायांग, निरयावलिका

निर्देशिका—साध्वीश्री सिरेकंवरजी, साध्वीश्री सोहनांजी (लाडनूं), साध्वीश्री हुलासांजी, साध्वीश्री हर्षकुमारीजी, साध्वीश्री पुण्यश्रीजी।

कार्यारम्भ—सं. २०१२ उज्जैन, श्रावण कृष्णपक्ष में।

सम्पूर्ति—कार्तिक के शुक्लपक्ष में।

२. सूर्यप्रज्ञप्ति, अनुयोगद्वार, औपपातिक

निर्देशिका—साध्वीश्री रत्नकुमारीजी (सरदारशहर)।

सहयोगिनी—साध्वीश्री हर्षकुमारीजी (सरदारशहर), साध्वीश्री कानकुमारीजी (चूरू), साध्वीश्री जयश्रीजी, साध्वीश्री गुणसुन्दरजी।

कार्यारम्भ—उज्जैन, सं. २०१२, आषाढ़ कृष्णा ९।

सम्पूर्ति—आश्विन में।

३. ज्ञाताधर्मकथा

निर्देशिका—साध्वीश्री रत्नकुमारीजी (सरदारशहर)।

सहयोगिनी—साध्वीश्री चांदकुमारीजी (सरदारशहर), साध्वीश्री कमलूजी (सरदारशहर), साध्वीश्री कानकुमारीजी (चूरू), साध्वीश्री सोहनांजी (राजलदेसर), साध्वीश्री जतनकुमारीजी (सरदारशहर)।

कार्यारम्भ—सं. २०१३, श्रावण।

संपूर्ति—कार्तिक।

४. बृहत्कल्प

निर्देशिका—साध्वीश्री धनकुमारीजी (सरदारशहर)।

सहयोगिनी—साध्वीश्री हर्षकुमारीजी, साध्वीश्री रत्नकुमारीजी, साध्वीश्री भीखांजी, साध्वीश्री कानकुमारीजी, साध्वीश्री सोहनांजी, साध्वीश्री पुण्यश्रीजी, साध्वीश्री विद्याकुमारीजी।

कार्यारम्भ—सं. २०१२, कार्तिक शुक्ला १४।

संपूर्ति—उसी दिन।

५. व्यवहार

निर्देशिका—साध्वीश्री धनकुमारीजी (सरदारशहर)।

सहयोगिनी—साध्वीश्री छगनांजी (सरदारशहर), साध्वीश्री मोहनांजी, साध्वीश्री केसरजी, साध्वीश्री हर्षकुमारीजी, साध्वीश्री जयश्रीजी।

कार्यारम्भ—आश्विन कृष्णा ९।

संपूर्ति—आश्विन कृष्णा १४।

६. प्रश्नव्याकरण, अनुत्तरोपपातिकदशा, अंतकृतदशा

निर्देशिका—साध्वीश्री धनकुमारीजी (सरदारशहर)।

सहयोगिनी—साध्वीश्री भीखांजी, साध्वीश्री कमलश्रीजी, साध्वीश्री हर्षकुमारीजी (लाडनूं)।

कार्यारम्भ—सं. २०१२, श्रावण।

संपूर्ति—कार्तिक।

७. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति

निर्देशिका—साध्वीश्री राजीमतीजी।

सहयोगिनी—साध्वीश्री कमलूजी, साध्वीश्री भीखांजी, साध्वीश्री फूलकुमारीजी, साध्वीश्री हुलासांजी।

८. अनुयोगद्वार

निर्देशिका—साध्वीश्री फूलकुमारीजी (लाडनूं)।

सहयोगिनी—(नाम लिखित नहीं है)।

इस प्रकार लगभग तीस साधु और चालीस साध्वियों ने बत्तीस आगमों की शब्द-सूची लगभग पांच महीनों में तैयार कर दी।

इसके साथ-साथ शब्दकोश संबंधी अनेक विषयों पर भी कार्य चलता रहा। मुनिश्री चम्पालालजी (लाडनूं) ने आगमों में प्रयुक्त धातुओं का संकलन किया। अन्यान्य विषयों के वर्गीकरण भी तैयार किये गए।

प्रत्येक सूत्र की 'अकारादि' अनुक्रम से शब्दसूची तैयार हो जाने पर अब निर्धारित शब्दकोश का कार्य प्रारंभ करना था।

आचार्यश्री ने उज्जैन का चतुर्मास सम्पन्न कर राजस्थान की ओर विहार किया। भीलवाड़ा में माघ-महोत्सव सम्पन्न हुआ। वि. सं. २०१३ का चतुर्मास सरदारशहर में हुआ। शोध-कार्य के अंतर्गत अनुवाद आदि का कार्य चलता रहा। फिर चालीस दिवसीय दिल्ली-यात्रा सम्पन्न कर मंत्री मुनि की विशेष प्रार्थना पर माघ-महोत्सव का विराट् कार्यक्रम सरदारशहर में ही किया गया।

वि. सं. २०१४ का चतुर्मास सुजानगढ़ में था। स्थान आदि की

सुविधा थी। कार्ड प्रणाली से कोश का कार्य प्रारम्भ हुआ। इसमें मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री बुद्धमल्लजी और मुनिश्री मीठालालजी निर्देशक के रूप में कार्य करते थे और लगभग तेरह मुनि उनके सहयोगी थे। उनके नाम ये हैं—

१. मुनिश्री सुमेरमलजी (लाडनूं)
२. मुनिश्री सुमेरमलजी 'सुमन'
३. मुनिश्री दुलहराजजी
४. मुनिश्री श्रीचंद्रजी 'कमल'
५. मुनिश्री हीरालालजी
६. मुनिश्री जतनमलजी
७. मुनिश्री मोहनलालजी
८. मुनिश्री ताराचंदजी
९. मुनिश्री शुभकरणजी
१०. मुनिश्री हंसराजजी
११. मुनिश्री बसंतीलालजी
१२. मुनिश्री हनुमानमलजी
१३. मुनिश्री मधुकरजी

उस चतुर्मास में छह आगमों का शब्दकोश तैयार हो गया। उस वर्ष लाडनूं में माघ-महोत्सव सम्पन्न हुआ और वहां आचार्यश्री ने कलकत्ता की लम्बी यात्रा करने का निर्णय ले लिया। इसलिए शब्दकोश का कार्य स्थगित कर देना पड़ा। इस स्थगन का मुख्य कारण यह भी था कि पाठ-संशोधन के कार्य को प्राथमिकता दी गई और बीस-बाईस आगमों का पाठ-संशोधन कर लिया गया। साथ-साथ अनेक आगमों के अनुवाद, टिप्पण, शब्द-सूची भी साथ-साथ तैयार होते गए। अवशिष्ट आगमों के पाठ-संशोधन का कार्य चालू है और अनुवाद आदि भी चल रहे हैं।

४. आगम-शोध-कार्य : एक पर्यवेक्षण

आगम-शोध-कार्य को चलते-चलते लगभग एक युग बीत चला है। इस कार्य-काल में अनेक साधु-साध्वियों ने अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार इसमें हाथ बंटाया है। कार्य का प्रारम्भ एक छोटी-सी कल्पना से हुआ था, किन्तु आज वह कार्य बहुत विस्तार पा चुका है। आज भी अनेक साधु-साध्वियां उसमें संलग्न हैं।

इस निबन्ध में आगम-शोध-कार्य, उसकी पद्धति और कार्य करने वालों के नाम प्रस्तुत किए जा रहे हैं, जिससे यह अनुमान सहजतया हो सकेगा कि श्रुत के इस महायज्ञ में कितने-कितने व्यक्ति लगे हुए हैं।

१. पाठ-संशोधन तथा पाठ-निर्धारण

आगम-शोध-कार्य का प्रमुख अंग है—पाठ-संशोधन तथा उसका निर्धारण। इसी की सम्पन्नता से शोध-कार्य के दूसरे-दूसरे छोटे-बड़े सभी अंग-उपांग सम्पन्न होते हैं। यह कार्य प्रतिदिन मध्याह्न में लगभग दो घंटे तक चलता है। जिस आगम का पाठ-संशोधन करना होता है, उसकी प्राचीन प्रतियां प्राप्त की जाती हैं। वे प्रतियां हस्तलिखित, ताडपत्रीय या फोटो प्रिंट होती हैं। इनकी प्राथमिक जांच कर लेने के पश्चात् चार-पांच प्रतियां चुनकर रख ली जाती हैं और उनके आधार पर कार्य प्रारम्भ होता है। इनके साथ-साथ तत्-तत् आगमों के व्याख्या-ग्रंथों—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, दीपिका, टब्बा, जोड़ों आदि का भी यथेष्ट उपयोग किया जाता है।

इस कार्य में प्रमुखतया आचार्यश्री तुलसी तथा निकाय सचिव मुनिश्री नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) अपना बहुमूल्य समय लगाते हैं। शेष मुनि जो इसमें संलग्न हैं, वे ये हैं—

१. मुनिश्री सुदर्शनजी
२. मुनिश्री मधुकरजी
३. मुनिश्री हीरालालजी
४. मुनिश्री बालचंदजी।

श्रावक जयचन्दलालजी कोठारी (लाडनूं) भी इस कार्य में संलग्न रहते हैं।

पाठ-निर्धारण में प्रतियों तथा व्याख्या-ग्रंथों के अतिरिक्त पाठ के पौर्वापर्य तथा अन्य आगमों में उसके आवर्तन-प्रत्यावर्तन पर भी दृष्टि विशेष रूप से केन्द्रित रहती है।

यह कार्य निर्धारित समय पर तो चलता ही है, परन्तु समूचे दिन इस कार्य में दो-तीन मुनि लगे ही रहते हैं। वे इस कार्य के लिए सामग्री संकलित कर निकाय सचिव मुनिश्री के निर्देशानुसार उसे यथास्थान योजित कर देते हैं।

२. अनुवाद और संस्कृत-छाया

हमारी यह अभिलाषा रही है कि प्रत्येक आगम का प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद तथा उसकी संस्कृत-छाया प्रस्तुत की जाए। अनुवाद मूलस्पर्शी हो तथा कोई भी शब्द अस्पष्ट न रहे, यह हमारा प्रयत्न रहा है। भावानुवाद भले ही सुगम हो, परन्तु कभी-कभी वह मूल से बहुत दूर चला जाता है

और पाठक मूल-भाव से भटक-सा जाता है, इसलिए हमने मूलस्पर्शी अनुवाद को प्रधानता दी है।

प्राकृत का संस्कृत में रूपान्तरण करते समय अत्यधिक सतर्कता की आवश्यकता होती है। क्योंकि आगम के उपलब्ध अनेक संस्करणों में संस्कृत छाया का आधार प्रधानतः टीका रही है। परन्तु बात यह है कि टीकाकार प्रत्येक शब्द की व्याख्या देते हैं, छाया नहीं। कहीं-कहीं व्याख्या को ही मूल छाया मान लेने से भयंकर भूलें हुई हैं और कभी-कभी उन व्याख्याओं के आधार पर मूल शब्द को भी परिवर्तित कर दिया जाता है। मुद्रित प्रतियों के एक नहीं अनेक स्थल इसके साक्षी हैं। ऐसी स्थिति में प्राकृत शब्दों की ही मूल प्रकृति, अर्थ की संगति आदि-आदि को ध्यान में रखकर उनका संस्कृत रूपान्तरण किया जाए तो मैं मानता हूं, शब्दों के साथ न्याय हो सकता है।

- दशवैकालिक (सानुवाद, सटिप्पण) छप चुका है।
- उत्तराध्ययन (सानुवाद) छप रहा है।
- स्थानांग, समवायांग, उपासकदशा, नन्दी, निरयावलिका आदि-आदि सूत्रों के अनुवाद तैयार हैं।

वर्तमान में विभिन्न आगमों पर निम्नोक्त कार्य हो रहा है—

१. **औपपातिक (छाया)**—मुनिश्री चन्दनमलजी।

२. **स्थानांग (छाया)**—मुनिश्री दुलीचंदजी।

३. **उपासकदशा (छाया)**—मुनिश्री गणेशमलजी।

४. **आचारांग (प्रथम)**—(छाया तथा अनुवाद)।

५. **औपपातिक (अनुवाद)**—साध्वीश्री संघमित्राजी।

६. **अनुयोगद्वार (अनुवाद)**—साध्वीश्री कनकप्रभाजी।

७. **अनुयोगद्वार (छाया)**—साध्वीश्री यशोधराजी।

८. **आचारांग चूला (छाया)**—साध्वीश्री जतनकुमारीजी।

९. **निशीथ (छाया)**—साध्वीश्री जयश्रीजी।

१०. **समवायांग (छाया)**—साध्वीश्री कनकश्रीजी।

३. टिप्पण

आगमगत विशेष शब्दों के अर्थ तथा विभिन्न स्थलों के स्पष्टीकरण के लिए टिप्पण लिखना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। इनके बिना शब्द तथा स्थल अत्यन्त दुरूह हो जाते हैं। हमने टिप्पणों के लेखन में प्राचीन व्याख्या-ग्रंथों तथा आधुनिक सामग्री का पूरा-पूरा उपयोग करने का प्रयत्न किया है। फिर भी यत्र-तत्र सामग्री के अभाव में कुछेक शब्द के अर्थ आज भी अन्वेषणीय रह जाते हैं।

उत्तराध्ययन तथा स्थानांग के विस्तृत टिप्पण तैयार हैं और दशवैकालिक भी सटिप्पण प्रकाश में आ चुका है। उत्तराध्ययन प्रकाश्यमान है।

४. शब्दानुक्रम

प्रत्येक आगम के साथ उस आगम में प्रयुक्त सभी शब्दों का एक अनुक्रम तथा सभी प्रमाण-स्थलों का निर्देश, आज के शोध की सद्यस्क अपेक्षा है। इसके बिना शोध-कार्य अधूरा रह जाता है। हमने प्रत्येक आगम के शब्दानुक्रम (सप्रमाण) को परिशिष्ट में दिया है। इससे जिज्ञासु व्यक्तियों को शब्दों की खोज में काफी सुगमता हो जाती है। इसके साथ-साथ नामानुक्रम आदि-आदि उपांग भी देते रहे हैं।

पद्यमय आगमों का पदानुक्रम तथा गद्यमय आगमों का सूत्रानुक्रम देना निश्चित किया गया है। इसी के अनुसार कार्य भी चल रहा है।

इस कार्य में मुख्यरूप से मुनिश्री श्रीचन्द्रजी 'कमल' लगे हुए हैं और अभी-अभी उन्होंने नन्दी, आचारांग (प्रथम), आवश्यक, निशीथ तथा उत्तराध्ययन का शब्दानुक्रम, नामानुक्रम आदि तैयार किया है।

मुनिश्री हनुमानमलजी (सरदारशहर) उनके सहयोगी रहे हैं तथा आजकल वे आचारांग चूला के शब्दानुक्रम में लगे हुए हैं।

मुनिश्री किशनलालजी सूत्रकृतांग का 'पदानुक्रम' तैयार कर रहे हैं।

साध्वीश्री सूरजकुमारीजी, साध्वीश्री जयश्रीजी तथा साध्वीश्री कनकश्रीजी ने उत्तराध्ययनसूत्र का पदानुकम तैयार किया है।

आगम-शोध-कार्य के ये प्रमुख अंग हैं और इन पर कार्य गतिशील है।

इनके अतिरिक्त शोध-कार्य के अनेक उपांग भी हैं। उन सबकी क्रियान्विति में अनेक साधु-साध्वियां संलग्न हैं।

साध्वीश्री कानकुमारीजी ने 'उत्तराध्ययनसूत्र' का 'छन्दबोध' तैयार किया है। साध्वीश्री मंजुलाजी उपासकदशा तथा साध्वीश्री संघमित्राजी औपपातिकसूत्र के विभिन्न अंगों पर कार्य कर रही हैं।

मुनिश्री सुखलालजी उत्तराध्ययन की कथाओं के सम्पादन तथा अनुवाद में लगे हुए हैं।

मुनिश्री सागरमलजी 'श्रमण' आचारांगसूत्र (प्रथम) के संशोधित पाठ की हस्तलिखित प्रति तैयार कर रहे हैं।

प्रत्येक सूत्र की विस्तृत भूमिका तथा समीक्षात्मक अध्ययन भी लिखे जा रहे हैं। दशवैकालिक तथा उत्तराध्ययन के समीक्षात्मक अध्ययन लिखे जा चुके हैं।

इस प्रकार हमारे इस कार्य में आचार्यश्री के साथ रहने वाले तथा अन्यत्र विहारी अनेक साधु-साध्वियां संलग्न हैं। तेरापंथी महासभा इसके प्रकाशन में दत्तचित्त है। आदर्श साहित्य संघ भी इस दिशा में कई वर्षों से अपनी महत्त्वपूर्ण सेवाएं दे रहा है। कुछेक श्रावक भी इस कार्य में यथायोग्य सहयोग देते रहे हैं।

आगम-शोध-कार्य की समस्त प्रवृत्तियों के अंतिम निर्णायक तथा वाचना-प्रमुख आचार्यश्री तुलसी हैं और इस दिशा में उनके अनन्य सहयोगी तथा संपूर्ण शोध-कार्य के प्रधान निर्देशक एवं सम्पादक हैं निकाय सचिव मुनिश्री नथमलजी। वस्तुतः इनकी सतत प्रेरणा और संलग्नता ने कार्य को गति दी है तथा अनेक साधुओं को श्रुत के इस महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान में योगदान देने के लिए प्रेरित किया है।

निर्णायकता के ये दो केन्द्र हमारे शोध-कार्य के प्राण तथा प्रकाश-स्तम्भ हैं। इनकी उद्यमपरता, कार्यनिष्ठा, सूक्ष्म तत्त्वान्वेषण की मेधा तथा दूरदर्शिता से हम लाभान्वित हुए हैं, हो रहे ह और चिरकाल तक होते रहेंगे।

५. पाठ-संशोधन : एक मौलिक कार्य

भवन-निर्माण में नींव का जो मूल्य है उससे अधिक मूल्य है आगम-सम्पादन में पाठ-संशोधन का। यह एक मौलिक कार्य है। उसके बिना अर्थ का निर्धारण नहीं किया जा सकता। पाठ-संशोधन के अभाव में आगमों में अनेक जगह त्रुटियां रहीं और उनका अर्थ भी आगमों में उल्लिखित पाठ के आधार पर किया गया। इससे कहीं कहीं सम्यक् पाठ न पकड़ पाने के कारण शब्दों के अर्थ गलत हो गए।

हमें आगम कार्य करते-करते लगभग एक युग बीत रहा है। इस अवधि में अनेकानेक नए अनुभव प्राप्त हुए, सैकड़ों ग्रंथों का तलस्पर्शी अध्ययन हुआ और आगम तथा व्याख्या-साहित्य को सूक्ष्मता से समझने का सुअवसर मिला। इस गुरुतर कार्य को सम्पन्न करने में लगभग बीस साधु-साध्वियां अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। हमारे इस शोध कार्य के प्रमुख हैं—आचार्यश्री तुलसी और प्रधान सम्पादक और निर्देशक हैं—मुनिश्री नथमलजी।

यद्यपि आचार्यश्री इस कार्य में अपना अधिकांश समय लगाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु एक प्रगतिशील धर्मसंघ के आचार्य होने के कारण अन्याय अनेक प्रवृत्तियों में उन्हें संलग्न रहना पड़ता है। तेरापंथ एक केन्द्र-शासित संघ है। आचार्य उसके केन्द्र हैं। अतः छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी प्रवृत्ति में उनकी संलग्नता आवश्यक होती है। इसीलिए वे किसी एक ही प्रवृत्ति में अपना सारा समय नहीं लगा सकते। किन्तु इतना उत्तरदायित्व होते हुए भी वे आगम-कार्य के लिए निरंतर चिन्तनशील और कार्य-तत्पर रहते हैं। कभी-कभी अपनी अन्यान्य प्रवृत्तियों को गौण कर इसको प्रमुखता देते हैं। इसीलिए कृतज्ञता की भाषा में मुनिश्री नथमलजी ने लिखा है—'**आगम-कार्य की सभी प्रवृत्तियों में आचार्यश्री का हमें सक्रिय योग, मार्गदर्शन और प्रोत्साहन प्राप्त है। यही हमारा इस गुरुतर कार्य में प्रवृत्त होने का शक्ति-बीज है।**'

मुनिश्री नथमलजी ने इस शोध-कार्य में अनेक नए आयाम खोले हैं और अनेक साधु-साध्वियों को इस कार्य की ओर आकृष्ट किया है। उनका समूचा समय इसी को गतिशील बनाए रखने में व्यतीत होता है और उन्होंने

अपने परिपार्श्व में इसके लिए कार्यकर्त्ताओं की एक सुन्दर कड़ी निर्मित की है।

अभी-अभी एक दिन राजस्थान के प्रमुख कवि श्री कन्हैयालाल सेठिया ने मुनिश्री से प्रार्थना की—'आप इस शोध-कार्य में अपना जीवन क्यों लगा रहे हैं? इस कार्य को विद्वानों को सौंपकर आप कुछ मौलिक देन दीजिए। आप-जैसे प्रखर प्रतिभा वालों से सारा संसार लाभान्वित हो सकता है। परन्तु मैं देखता हूं कि आप इस कार्य में इतने व्यस्त रहते हैं कि मौलिक चिन्तन-मनन के लिए समय भी नहीं मिलता होगा। दूसरी बात है कि व्यक्ति अमुक-अमुक वय तक ही कुछ मौलिक देन दे सकता है। उम्र के ढल जाने पर उसमें मौलिक सूझ-बूझ की कमी हो जाती है। इसीलिए आपको इस कार्य से हटकर विभिन्न विषयों पर अपना मौलिक अनुभव, चिन्तन और मनन प्रस्तुत करना चाहिए।'

मुनिश्री मुस्कराए और चुप हो गए।

प्रतिदिन की भांति आज भी आचार्यश्री के समक्ष आचारांग का वाचन चल रहा था। मुनिश्री आचारांग के गूढ़तम सूत्रों के रहस्यों को खोल रहे थे। बीस-पचीस विद्यार्थी, साधु-साध्वियां दत्तचित्त हो उनको सुन रही थीं। प्रसंग चला। मैंने आचार्यश्री से कहा—'पाठ-संशोधन जैसे कार्य में मुनिश्री का इतना समय लगाना कुछ अटपटा-सा लगता है। आजकल मैं देख रहा हूं कि मौलिक सृजन के लिए उनके पास अवकाश ही नहीं रह पाता। ऐसी प्रतिभाएं यदा-कदा ही आती हैं और यदि उनका समुचित उपयोग नहीं होता तो संघ के परिवार को तथा अन्यान्य लोगों को बहुत बड़े लाभ से वंचित रहना पड़ता है।' आचार्यश्री ने कहा—'तुम पाठ-संशोधन को मौलिक कार्य नहीं मानते, यह तुम्हारी भूल है। मैं मानता हूं कि शोध-कार्य का सबसे प्रमुख अंग है मूल-पाठ का निर्धारण और यह कार्य प्रत्येक कर नहीं सकता। दूसरी बात है कि पाठ-संशोधन के क्रिया-काल में ये कितने लाभान्वित हुए हैं—उसे इनकी जबानी ही सुनो।' मुनिश्री नथमलजी ने कहा—'पाठ-निर्धारण में पौर्वापर्य का अनुसंधान अत्यन्त अपेक्षित होता है और यह तभी संभव है कि एक-एक शब्द पर चिन्तन को केन्द्रित कर उसके हार्द को समझा जाए। इस प्रवृत्ति से विचारों की स्पष्टता, चिन्तन की गढ़ता और अर्थ-संग्रहण की

प्रौढ़ता बढ़ती है। मैं इसे मौलिक अध्ययन मानता हूं और मेरा दृढ़ विश्वास है कि इसके परिपाश्र्व में जो कुछ लिखा जाएगा, वह मौलिक ही होगा।' मैं पूर्णतः इस बात को नहीं भी पकड़ सका, किन्तु इसके पीछे जो सत्य बोल रहा था, उसे मैं समझने का यत्न करता रहा।

६. शोध-कार्य में आनेवाली समस्याएं और समाधान

आगम-शोध-कार्य के अनेक अंग हैं—मूल-पाठ का संशोधन, संस्कृत-छाया, अनुवाद, टिप्पण, तुलनात्मक अध्ययन, समीक्षात्मक अध्ययन, शब्द-सूची का निर्माण आदि-आदि। इन सब कार्यों में मूल-पाठ का संशोधन और निर्धारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है, क्योंकि आगम-शोध-कार्य के दूसरे सारे अंग इसी पर आधृत हैं। पाठ-संशोधन के लिए प्राचीन आदर्श उपलब्ध किए जाते हैं और एक प्रति को मुख्य मानकर कार्य आगे चलता है। परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि जितने आदर्श उतने ही पाठ-भेद। कोई भी एक प्रति ऐसी नहीं मिलती जिसके सारे पाठ समान रूप से मिलते हों और यह सही है कि जहां हाथ से लिखा जाए वहां एकरूपता हो नहीं सकती, क्योंकि लिपि-दोष या भाषा की अजानकारी के कारण अनेक त्रुटियां हो जाती हैं। प्राचीन आदर्शों में प्रयुक्त लिपि में '**थ**', '**ध**' और '**य**' में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इस कारण से '**थ**' के स्थान पर '**ध**' या '**य**' और '**य**' के स्थान पर '**ध**' या '**थ**' हो जाना कोई असंभव बात नहीं है। इस संभाव्यता ने अनेक महत्त्वपूर्ण पाठों को बदल दिया और आज इनके सही रूपों को जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। उदाहरण के लिए '**धाम**' शब्द '**थाम**' या '**याम**' बन गया। तीनों के तीन अर्थ होते हैं, पाठक किस शब्द को मूल मानकर अर्थ करें?

संक्षेपीकरण—आगम-सूत्रों के मूलपाठों का संक्षेपीकरण दो कारणों से हुआ है—

१. स्वयं रचनाकार द्वारा स्वीकृत संक्षिप्त शैली के कारण।

२. लिपिकर्त्ताओं द्वारा सुविधा के लिए किए गए संक्षेप के कारण।

आगमों में दोनों प्रकार के संक्षेपीकरण के उदाहरण मिलते हैं। इन संक्षेपीकरणों से अनेक कठिनाइयां भी उत्पन्न हुई हैं। इनसे अर्थ-संग्रहण तथा

प्रतिपाद्य सहज गम्य नहीं होता।

संक्षेपीकरण विशेषतः गद्य भाग में अधिक हुआ है और कहीं-कहीं पद्य भाग भी उससे अछूते नहीं रहे हैं। रचनाकार द्वारा स्वीकृत संक्षेपीकरण का एक उदाहरण मैं प्रस्तुत कर रहा हूं।

दशवैकालिक सूत्र के आठवें अध्ययन का छब्बीसवां श्लोक इस प्रकार है—

कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं, पेमं नाभिनिवेसए।
दारुणं कक्कसं फासं, काएण अहियासए।।

यहां पांच श्लोकों का एक श्लोक में समावेश किया गया है। ऐसी स्थिति में पांच श्लोकों को जाने बिना, इस श्लोक-विषयक अस्पष्टता बनी रहती है। यथार्थ में पांचों इन्द्रियों के पांचों विषयों को समभावपूर्वक सहने का उपदेश इन पांच श्लोकों से अभिव्यक्त होता है। किन्तु श्लोकों के अधिकांश शब्दों का पुनरावर्तन होने के कारण तथा आदि, अन्त के ग्रहण से मध्यवर्ती का ग्रहण होता है—इस न्याय से रचनाकार ने वर्ण, शब्द और स्पर्श का ग्रहण कर पांच श्लोकों के विषय को एक ही श्लोक में सन्निहित कर दिया।

चूर्णिकार तथा टीकाकार ने इस विषय की कुछ सूचना दी हैं, किन्तु उन्होंने पांचों श्लोकों का अर्थ नहीं किया। निशीथ चूर्णि तथा बृहत्कल्पभाष्य में आद्यन्त के ग्रहण से मध्य का ग्रहण होता है—इसे समझाने के लिए इस श्लोक को उद्धृत कर पांच श्लोक देते हुए लिखा है—

हे चोदग! जहा दसवेयालिते आयारपणिहीए भणियं—कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं...........

एत्थ सिलोगे आदिमंतग्गहणं कयं इहरहा उ एवं वत्तव्वं—

१. **कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं, पेम्मं णाभिणिवेसए।**
दारुणं कक्कसं सद्दं, सोएणं अहियासए।।
२. **चक्खूकंतेहिं रूवेहिं, पेम्मं णाभिणिवेसए।**
दारुणं कक्कसं रूवं, चक्खुणा अहियासए।।
३. **घाणकंतेहिं गंधेहिं, पेम्मं णाभिणिवेसए।**
दारुणं कक्कसं गधं, घाणणं अहियासए।।

४. जीहकंतेहिं रसेहिं, पेम्मं णाभिणिवेसए।
दारुणं कक्कसं रसं, जीहाए अहियासए।।
५. सुहफासेहिं कंतेहिं, पेम्मं णाभिणिवेसए।
दारुणं कक्कसं फासं, काएणं अहियासए।।

एवं रागदोसा, पंचहिं इंदियविसएहिं गहिता। आदिअंतग्गहणेणं मज्झिल्ला अट्ठ विसया गहिता भवंति। एवं इह वि महंतं सुत्तं मा भवउ त्ति आदिअंतग्गहिता..........(निशीथभाष्य, चूर्णि, भाग ३, पृ. ४८३)

लिपिकर्त्ता द्वारा किया गया संक्षेपीकरण का एक अन्य उदाहरण मैं प्रस्तुत कर रहा हूं।

दशवैकालिक सूत्र के पांचवें अध्ययन के प्रथम उद्देशक का तेतीसवां, चौतीसवां श्लोक इस प्रकार है—

- **एवं उदओल्ले ससिणिद्धे, ससरक्खे मट्टिया ऊसे।**
  हरियाले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे लोणे।।
- **गेरुय वण्णिय सेडिय, सोरट्ठिय पिट्ठ कुक्कुसकए य।**
  उक्कट्ठमसंसट्ठे, संसट्ठे चेव बोधव्वे।।

टीकाकार के अनुसार ये दो गाथाएं हैं। चूर्णि में इनके स्थान पर सत्तरह श्लोक हैं। टीकाभिमत गाथाओं में '**एवं**' और '**बोधव्वं**'—ये दो शब्द जो हैं वे इस बात के सूचक हैं कि ये संग्रह-गाथाएं हैं। जान पड़ता है कि पहले ये श्लोक भिन्न-भिन्न थे, फिर बाद में संक्षेपीकरण की दृष्टि से उनका थोड़े में संग्रहण कर लिया गया। यह कब और किसने किया? इसकी निश्चित जानकारी हमें नहीं है। इसके बारे में इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि यह संक्षेपीकरण चूर्णि और टीका के निर्माण का मध्यवर्ती है और लिपिकारों ने अपनी सुविधा के लिए ऐसा किया है। अगस्त्यसिंह की चूर्णि में वे सत्तरह गाथाएं इस प्रकार हैं—

उदओल्लेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं।।

इसी प्रकार '**ससिणिद्धेण हत्थेण**' आदि-आदि पूरी गाथाएं वहां उद्धृत हैं।

संक्षेपीकरण का एक और उदाहरण मैं आपके समक्ष प्रस्तुत करता हूं। यह संक्षेपीकरण बहुत ही विचित्र रूप से हुआ है। इसमें '**जाव**', '**एवं**' आदि

संग्राहक शब्द भी नहीं हैं। अतः पाठक संक्षेप को पकड़ पाने में असमर्थ ही रहता है। जब तक सूत्र-पाठों से पौर्वापर्य का ज्ञान नहीं होता, ऐसे पाठ बहुत भ्रम पैदा कर देते हैं।

आचारांग सूत्र के आठवें अध्ययन के दूसरे उद्देशक में एक पाठ है—

'से भिक्खू परक्कमेज्ज वा, चिट्ठेज्ज वा, णिसीएज्ज वा, तुयट्टेज्ज वा, सुसाणंसि वा, सुन्नागारंसि वा, गिरिगुहंसि वा, रुक्खमूलंसि वा, कुंभारायतणंसि वा....' (आचा. ८।२।२१)।

अर्थात् वह भिक्षु श्मशान, शून्यगृह, गिरि-गुफा, वृक्षमूल, अथवा कुम्भकार-आयतन में जाए, ठहरे, बैठे, सोए आदि-आदि......इस पाठ में प्रयुक्त **'कुंभारायतणंसि'** (सं. कुम्भकारायतने) शब्द विमर्शनीय है। श्मशान आदि का उल्लेख करते-करते केवल कुम्भकार-आयतन की बात सहज समझ में नहीं आती। यह शब्द श्मशान आदि चार शब्दों से विलग पड़ जाता है। संभव है यहां कुम्भकार-आयतन के साथ-साथ अन्य-अन्य आयतनों का भी उल्लेख रहा हो। यह तथ्य आचारांग चूर्णि की अर्थ-परम्परा से स्पष्ट परिलक्षित होता है। किन्तु टीकाकाल में वे सारे शब्द छूट जाते हैं और टीकाकार केवल **'कुंभारायतणंसि'** का अर्थ कर छोड़ देते हैं। संक्षेपीकरण के कारण पहले यहां 'जाव' शब्द का प्रयोग रहा होगा। किन्तु आगे चलकर वह भी छूट गया और बिना 'जाव' वाली प्रति से टीकाकार ने टीका लिखी होगी। इस भूल के कारण आज उस पाठ में केवल **'कुंभारायतणंसि वा'** रह गया और शेष पाठ छूट गया। शेष पाठ के अभाव में इस एक शब्द का यहां कोई विशेष अर्थ नहीं रह जाता।

७. पाठ-परिवर्तन तथा अर्थ-विस्मृति

पाठ-परिवर्तनों का मुख्य हेतु लिपि है। लिपि परिवर्तित होती रहती है। यह परिवर्तन लिपिकर्त्ता के समक्ष एक समस्या पैदा करता है। लिपि को पूर्णरूप से न जानने के कारण अनुमान का सहारा लेकर कई शब्द लिख दिए जाते हैं। लिखने में प्रमाद भी हो सकता है। प्रतिलिपि करने वाले सबके सब विद्वान् नहीं होते। इन सभी कारणों से पाठ-परिवर्तनों की एक लम्बी शृंखला चल पड़ती है।

१. (क) दशवैकालिक सूत्र के दशवें अध्ययन में चौदहवें श्लोक का अन्तिम चरण है—**'तवे रए सामणिए जे स भिक्खू'**। इसका अर्थ किया गया है—'जो श्रमणसंबंधी तप में रत है, वह भिक्षु है।' सभी प्रतियों में प्रायः यही पाठ मिलता है, किन्तु यहां **'तवे'** के स्थान पर **'भवे'** पाठ होना चाहिए। तब इसका चरण होगा **'भवे रए सामणिए जे स भिक्खू।'** जो श्रामण्य में रत रहता है, वह भिक्षु है। यह सहज अर्थ है। पहले वाले वाक्य में श्रामण्य को तप का विशेषण माना है, पर वह विशेष अर्थवान् नहीं लगता। प्राचीन लिपि में **'भ'** और **'त'** के लिखने में बहुत ही कम अन्तर रहता था। लिपि-दोष के कारण यह वर्ण-विपर्यय हुआ है।

अर्थ का मूल में प्रवेश

(ख) निशीथ सूत्र के नौवें उद्देशक के छठे सूत्र में अनेक प्रकार के **'भत्त'** गिनाए गए हैं। उनमें **'पाहुणभत्त'** भी एक है। यह शब्द विमर्शनीय है। चूर्णि के अध्ययन से पता लगता है कि चूर्णिकार के सामने **'आदेशभत्त'** पाठ रहा और उन्होंने उसका अर्थ करते हुए लिखा है—**'रण्णो कोति पाहुण्णो आगतो तस्स भत्तं आदेशभत्तं।'** यहां चूर्णिकार ने **'पाहुणगभत्त'** को **आदेश-भत्त** का अर्थ माना है। कालान्तर में यह अर्थ ही मूल पाठ बन गया और जो मूल था, वह विस्मृत हो गया।

२. उत्तराध्ययन सूत्र में बावीसवें अध्ययन का चौबीसवां श्लोक इस प्रकार है—

अह से सुगंधगंधिए, तुरियं मउयकुंचिए।
सयमेव लुंचई केसे पंचमुट्ठीहिं समाहिओ।।

यहां आया हुआ **'पंचमुट्ठीहिं'** शब्द विमर्शनीय है। वास्तव में यह पाठ **'पंचट्ठाहिं'** था। 'अट्ठा का अर्थ है—मुष्टि। पंच अट्ठा अर्थात् पंचमुष्टि। पंचम शब्द अपरिचित था। बृहद्वृत्तिकार ने **'पंचट्ठाहिं'** पाठ मानकर उसका अर्थ **'पंचमुष्टि'** किया है। कालान्तर में यह व्याख्यात अर्थ ही मूल पाठ बन गया।

३. प्राचीन काल में आगमों के साथ-साथ व्याख्याएं भी कंठस्थ रखी जाती थीं। चलते-चलते कालान्तर में वे व्याख्याएं ही मूल-पाठ के साथ जुड़ गईं। इसका स्पष्ट उदाहरण हमें दशवैकालिक सूत्र पर उपलब्ध प्राचीन

चूर्णि में मिलता है। इसके रचयिता अगस्त्यसिंह स्थविर हैं और उनका कालमान वि. की तीसरी या पांचवीं शताब्दी है। वर्तमान में उपलब्ध दशवैकालिक सूत्र की हस्तलिखित प्रतियों में चतुर्थ अध्ययन में एक पाठ इस प्रकार है—**'जे य कीयडपयंगा जा य कुंथुं पिवीलिया सव्वे बेइंदिया सव्वे तेइंदिया सव्वे चउरिंदिया सव्वे पंचेंदिया, सव्वे देवा.... ।'**

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार यह पाठ इस प्रकार है—**'जे य कीडपयंगा जा य कुंथुपिवीलिया, सव्वे देवा.... ।'**

चूर्णिकार ने लिखा है कि यहां **'द्वी'** द्वीन्द्रिय जाति का प्रतीक है, इसलिए उसके द्वारा द्वीन्द्रिय जाति का ग्रहण कर लेना चाहिए। इसी प्रकार **'पयंग' 'कुंथु' 'पिवीलिया'** भी अपनी-अपनी जाति के संग्राहक शब्द हैं। इनसे भी उस-उस जाति का ग्रहण कर लेना चाहिए। **'सव्वे बेइंदिया, सव्वे तेइंदिया, सव्वे चउरिंदिया, सव्वे पंचेंदिया'**—ये व्याख्या के शब्द थे। आगे चलकर ये शब्द मूल पाठ में आ गए, इसीलिए टीकाकारों ने उन्हें मूल मानकर उनकी व्याख्या लिखी।

४. दशवैकालिक सूत्र के छठे अध्ययन के सातवें श्लोक में मुनि को अट्ठारह स्थानों के वर्जन का निर्देश दिया गया है—

दस अट्ठ य ठाणाइं, जाइं बालोऽवरज्झई।
तत्थ अन्नयरे ठाणे, निग्गंथत्ताओ भस्सई।

इस श्लोक में केवल यह निर्देश है कि साधक अट्ठारह स्थानों का वर्जन करे, अन्यथा वह निर्ग्रन्थिता से भ्रष्ट हो जाता है। परन्तु यहां यह नहीं बताया गया कि वे अट्ठारह स्थान कौन-कौन से हैं? हालांकि अट्ठारह स्थानों के विधिनिषेध के हेतुओं का अगले श्लोकों में स्पष्ट उल्लेख है। निर्युक्तिकार ने इन अट्ठारह स्थानों का संग्रह कर एक श्लोक की रचना इस प्रकार की है—

वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं।
पलियंक निसेज्जा य, सिणाणं सोहवज्जणं।।

यह श्लोक प्रारंभ में व्याख्या के रूप में प्रचलित रहा होगा, किन्तु कालान्तर में यह मूल में प्रवेश पा गया और आज प्रायः प्रतियों में यह मूल पाठ के साथ लिखा हुआ मिलता है। वि. की आठवीं शताब्दी के प्रसिद्ध

टीकाकार हरिभद्रसूरि क समय तक यह निर्युक्तिकार के श्लोक के रूप में प्रसिद्ध रहा था। इसका स्पष्ट उल्लेख स्वयं टीकाकार ने **'निर्युक्तिकार आह'**—ऐसा लिख कर किया है। किन्तु बाद में **'निर्युक्तिकार आह'**—यह छूट गया और यह श्लोक मूल-पाठ के साथ पढ़ा जाने लगा।

इस प्रकार व्याख्याओं के सम्मिश्रण से मूल-पाठों में अनेक परिवर्तन हुए हैं।

अर्थ-विस्मृति

औपपातिक के छत्तीसवें सूत्र में काय-क्लेश के अनेक प्रकार बताए हैं—**ठाणट्ठिइए ठाणाइए....**। नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि ने इस पर टीका करते हुए **'ठाणट्ठिइए'** को मूल पाठ मानकर **'ठाणाइए'** को पाठान्तर माना है। उन्होंने इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—'**ठाणट्ठिइए' त्ति स्थानं—कायोत्सर्गस्तेन स्थितिः—स स्थानस्थितिकः। पाठान्तरेण 'ठाणाइए' त्ति स्थानं—कायोत्सर्गस्तमतिगच्छति करोतीति स्थानातिगः।**' (पत्र ७५)।

लगता है यहां मूल शब्द तथा उसकी भावना टीकाकार के सामने अस्पष्ट रही है। वास्तव में यहां पर 'ठाणाइए' पाठ का और उसका संस्कृत रूपान्तर 'स्थानादिकः' होता है, 'स्थानातिग' नहीं। स्थान आदि—इस आदि शब्द से सूत्रकार कायोत्सर्ग के प्रकारों की सूचना देते हैं। कायोत्सर्ग तीन प्रकार का होता है—**१. उत्थित कायोत्सर्ग, २. निषन्न कायोत्सर्ग और ३. शयित कायोत्सर्ग**—ये तीनों प्रकार जैन-योग साधना में प्रचलित रहे हैं। परन्तु टीकाकार ने इस भावना को ग्रहण न कर **'ठाणाइए'** का अर्थ कायोत्सर्ग करने वाला मात्र किया है, जो कि मूल भावना से बहुत दूर जा पड़ता है।

८. आगमपाठ-शोधन : कुछ मीमांस्य स्थल

यह वि. सं. २०१२ की बात है। आचार्यश्री तुलसी का चतुर्मास उज्जैन में था। वहां 'आगम-कोश' के निर्माण कार्य से आगम-सम्पादन का कार्य प्रारंभ हुआ। आज इस कार्य को प्रारंभ किए चौदह वर्ष पूरे हो रहे हैं। इस अवधि में आचार्यश्री ने लगभग बीस हजार मील की यात्राएं कर उत्तर में बंगाल, दक्षिण में कन्याकुमारी तथा मध्यवर्ती क्षेत्रों का स्पर्शन किया है। इन

तीन वर्षों में दक्षिण के चारों प्रान्त तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक तथा आंध्र की यात्राएं कर यहां की संस्कृति और जैन धर्म के प्राचीन अवशेषों का अध्ययन किया है। हमें ऐसा लगा कि एक समय दक्षिण भारत जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र रहा था और उस धर्म ने यहां के सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित ही नहीं, उसका सुव्यवस्थित निर्माण भी किया था। किन्तु अत्यन्त खेद के साथ कहना पड़ता है कि आज इन दक्षिणी प्रान्तों में जैन धर्म का अस्तित्व नहीं के समान है। यत्र-तत्र कुछ हजार लोग रहते हैं, किन्तु उनका कोई उल्लेखनीय स्थान नहीं है।

हम यहां बहुत घूमे, किन्तु कहीं भी हमें श्वेताम्बरीय आगम देखने को नहीं मिले। यहां दिगम्बर ग्रंथों के अनेक भांडागार हैं। पर वे प्रायः उपेक्षित से पड़े हैं। स्थानीय लोग इतने समृद्ध नहीं हैं कि वे इनकी समुचित देख-रेख कर सकें। आवश्यकता है सभी जैन इस ओर ध्यान दें और दिगम्बर तथा श्वेताम्बर भेद-भाव को भुलाकर यहां कुछ कार्य करें।

आगम-सम्पादन के अंतर्गत अब तक बारह ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं और विद्वानों ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। आधुनिक सम्पादन की सारी विधाओं से समृद्ध इन आगमों का प्रकाशन जैन जगत् के लिए गौरव का विषय तो है ही, साथ-साथ अजैन विद्वानों के लिए भी शोध की अतुल सामग्री प्रस्तुत करता है।

आगम-संपादन के अनेक अंग हैं। उनमें पाठ-संशोधन का प्रमुख स्थान है। जब तक पाठ का निर्धारण नहीं होता तब तक अनुवाद या टिप्पण का कार्य भी पूरा नहीं हो सकता। पाठ-सम्पादन की अनेक कठिनाइयां हैं। केवल प्राचीन आदर्शों के आधार पर पाठों का निर्धारण पूर्ण नहीं माना जा सकता। जितने आदर्श हैं, उतने ही पाठ-भेद हैं, अतः जो पाठ अनेक प्रतियों में समान रूप से मिलते हैं, उन्हें ही उचित मान लेना संगत नहीं लगता। क्योंकि प्राचीन आदर्शों में कहीं-कहीं मूल-पाठ इतने अस्त-व्यस्त हो गए हैं कि उनका अर्थ-मीमांसा या पौर्वापर्य देखे बिना किसी एक निश्चय पर नहीं पहुंचा जा सकता। इसलिए पाठ-सम्पादन के विषय में हमारा अभिमत है कि किसी एक ही आदर्श, व्याख्या या किसी भी विधा पर एकांगी रूप से निर्भर नहीं रहा जा सकता। सबके समवेत उपयोग से ही सत्य के निकट पहुंचा जा सकता है।

पाठ-संपादन में उत्पन्न कठिनाइयों के दो कारण हैं—

१. लिपि-परिवर्तन और **२. संक्षेपीकरण।**

लिपि सदा एक सी नहीं रहती। समय-समय पर उसमें परिवर्तन होता रहता है। ब्राह्मी लिपि से चलकर आज हम देवनागरी तक पहुंच गए हैं। ताडपत्रीय पत्रों में जो लिपि है, वह कागजों पर लिखी लिपि से भिन्न है।

प्राचीन काल में **'व' 'घ' 'च' 'छ' 'थ'** आदि अक्षरों में बहुत अन्तर था। सारे लिपिकार इस अन्तर को समझने वाले नहीं होते थे। अतः लिपि को न समझने के कारण पाठों में अन्तर आता गया। टीकाकार तक आते-आते अनेक पाठों में बहुत भेद आ गया।

समान पाठों को संक्षेप में लिखने की रुचि से भी उनमें अन्तर आया है। संक्षेपीकरण का एक रूप न होने के कारण कहीं कुछ और कहीं कुछ पाठ लिख दिए गए हैं। **'जाव'** शब्द संक्षेपीकरण का वाहक है, परन्तु एकरूपता न रहने के कारण कहीं दो शब्द अधिक और कहीं दो शब्द न्यून गृहीत हुए हैं। इनसे भी पाठों में अन्तर आया है। इन समस्याओं का समाधान करने के लिए पाठ-संपादन में हमने कई दृष्टियों का आलम्बन लिया है—

१. पुनरावृत्त होने वाले पाठों का एक दूसरे से मिलान।

२. व्याख्या-ग्रंथों के आधार पर पाठ-निर्धारण।

३. अर्थ-मीमांसा के आधार पर पाठ-निर्धारण।

४. प्राचीन आदर्शों के आधार पर पाठ-निर्धारण।

५. अन्यान्य आगमों के आधार पर पाठ-निर्धारण।

इनमें जो जहां उचित लगता है, वहां उसका उपयोग किया जाता है। कहीं-कहीं एक से ज्यादा का आलम्बन लिया जाता है। प्रकाशित आगमों में मूलपाठ वाले संस्करणों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर पाठ-सम्पादन का महत्त्व स्वतः ज्ञात हो जाएगा।

प्रस्तुत निबंध में मैं ज्ञाताधर्मकथा के मूल पाठ के सम्पादन में आई हुई कुछेक कठिनाइयों तथा उनके समाधानों का विवरण प्रस्तुत करना चाहूंगा।

अभी हमारी आंध्र प्रदेश की यात्रा सम्पन्न हो रही है और हम उड़ीसा तथा मध्यप्रदेश की यात्रा के लिए कृतसंकल्प हैं। इस यात्रा में छठे अंग **'ज्ञाताधर्मकथा'** का सम्पादन प्रारंभ किया है। हमारे आगम-कार्य के वाचना

प्रमुख आचार्यश्री तुलसी हैं और सम्पादक तथा विवेचक मुनिश्री नथमलजी हैं। पाठ-सम्पादन में सहयोगी हैं—१. मुनि सुमेरमलजी 'सुदर्शन', २. मुनि मधुकरजी और ३. मुनि हीरालालजी। मुनि बालचंदजी भी कार्य में संलग्न हैं।

प्रस्तुत सूत्र के सम्पादन के लिए हमने चार प्राचीन आदर्श स्वीकृत किए हैं। *उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—*

१. **ताडपत्रीय प्रति**—लगभग १३वीं शताब्दी।

२. **पंचपाठी**—लगभग १५-१६वीं शताब्दी।

३. **पंचपाठी**—लगभग १६वीं शताब्दी।

४. **टब्बे की प्रति**।

लिपि के कारण पाठों में अन्तर

१. राजगृह का निवासी धन सार्थवाह का वर्णन ज्ञाताधर्मकथा के दूसरे अध्ययन में हुआ है। (२।७१) सूत्र में धन जब स्थविर भगवान् के दर्शन करने के लिए सोचता है, वहां प्रायः सभी प्रतियों में ऐसा पाठ है—**'तं इच्छामि णं थेरे भगवंते वंदामि नमंसामि........'**। यहां **'इच्छामि'** शब्द आलोच्य है। यहां 'इच्छामि' शब्द वाक्य-रचना की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। यदि **'इच्छामि'** शब्द रखा जाए तो आगे का पाठ होगा.......**भगवंते वंदिउं नमंसिउं**। किन्तु ऐसा पाठ उपलब्ध नहीं है।

अन्य आगमों में भी इसी प्रकार के प्रकरण आए हैं और उनकी समीक्षा करने पर **'इच्छामि'** के स्थान पर **'गच्छामि'** पाठ उपयुक्त लगता है। **'गच्छामि'** मान लेने पर आगे के पाठों में परिवर्तन अपेक्षित नहीं रहता। संभव है लिपि-दोष के कारण **'गच्छामि'** के स्थान पर **'इच्छामि'** बन गया और वही पाठ उत्तरोत्तर आदर्शों में संक्रांत होता गया।

इसी के आगे **'एवं संपेहेइ, संपेहित्ता'** पाठ होना चाहिए। वह भी आदर्शों में नहीं मिलता। संभव है काल के व्यवधान से यह पाठ लिपिकर्त्ताओं ने छोड़ दिया। उपासकदशा सूत्र (१।२०) में यह पूरा पाठ उपलब्ध होता है। वह इस प्रकार है—**'तं गच्छामि णं देवाणुप्पिया! समणं भगवं महावीरं वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि—एवं संपेहेइ, संपेहित्ता ण्हाए........'**।

इसी सूत्र के ज्ञाताधर्मकथा (३।५) में **'संचिट्ठेमाणी विहरइ'** पाठ है। वृत्ति में **'संविट्ठेमाणी'** मानकर व्याख्या की गई है। वास्तव में यही पाठ उचित लगता है, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में मयूरी अंडों का प्रसव कर अपनी पांखों से उनको संवेष्टित (संविट्ठेमाणी) कर बैठी है। यहां यही आशय यथार्थ लगता है। लिपि में **'व'** और **'च'** के लिखने में बहुत कम अंतर रहता है। अतः लिपिदोष के कारण **'व'** के स्थान पर **'च'** हो गया—ऐसा लगता है।

इसी ज्ञाताधर्मकथा (२।६५) में धन अपनी पत्नी से कहता है—'मैं जो आहार का संविभाग दे रहा हूं वह धर्म या तप आदि मानकर नहीं, किन्तु शरीर-चिंता में सहयोग मिल सके, इसलिए दे रहा हूं।'

इस सूत्र में संविभाग किसको दिया, इसका उल्लेख नहीं है। इसी अध्याय के पचहत्तरवें सूत्र में **'जाव विजयस्स तक्करस्स ताओ विपुलाओ'**—यह पाठ है। उसकी पूर्ति प्रस्तुत सूत्र से ही होती है। इससे यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि यहां **'विजयस्स तक्करस्स'**—ऐसा पाठ होना ही चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र के (२।११) में **'विजए नामं तक्करे होत्था पावचंडालरूवे.... गिद्धेव आमिसतल्लिच्छे अग्गिमिव सव्वभक्खी.....'** ऐसा पाठ है। इसी अध्याय के तेतीसवें सूत्र में यह पाठ संक्षिप्त होकर—**'तक्करे जाव गिद्धेव आमिसभक्खी'**—ऐसा हो गया। प्रायः प्रतियों में ऐसा ही उल्लेख मिलता है।

'आमिसतल्लिच्छे अग्गिमिव सव्वभक्खी' के स्थान पर **'आमिसभक्खी'** मात्र रह गया। इससे अर्थ भी स्पष्ट नहीं हो पाता। जब पूर्व पाठ के संदर्भ में इसको जांचा गया तब यह स्पष्ट हो गया कि यहां पाठ छूट गया है। यह संक्षेपीकरण ही त्रुटि है। संक्षेप में यह पाठ यदि ऐसा होता **'तक्करे जाव भक्खी'** तो सारी समस्या हल हो जाती।

इस प्रकार पाठ-संशोधन में पुनरावृत्त होने वाले पाठों की सूक्ष्म जांच करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। अन्यथा पाठों की एकरूपता नहीं रह पाती और कहीं-कहीं अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है।

(२।३३) में **'लयापहारे य छिवापहारे य'**—यह पाठ सभी प्रतियों में इसी रूप से मिलता है। यही पाठ इसी सूत्र में आगे **'छिवापहारे य लयापहारे य'** ऐसा है। अन्यत्र भी यह पाठ इसी रूप से आया है। अतः यहां (२।३३) भी यह

इसी प्रकार होना चाहिए। इसका अनुसंधान **'जाव'** शब्द से किया गया है।

(२।२९) में **'रोयमाणे कंदमाणे'** के आगे **'विलवमाणे'** शब्द नहीं है। (२।३४) में **'रोयमाणे जाव विलवमाणे'** है। इसके आधार पर यहां भी **'विलवमाणे'** पाठ चाहिए। क्योंकि यह **'जाव'** शब्द के द्वारा अनुबद्ध है।

पाठ के निर्धारण में अर्थ-मीमांसा का भी बहुत बड़ा प्रयोजन है।

१. प्रायः सभी प्रतियों में (२।१७) के अन्त का पाठ—**'समाणी जाव विहरित्तए'** है। अर्थ की दृष्टि से यहां **'विहरित्तए'** पाठ समुचित नहीं लगता, क्योंकि यहां दोहद पूर्ति का प्रसंग है। अतः यहां **'दोहलं विणित्तए'** पाठ चाहिए।

२. (२।५१) में प्रायः प्रतियों में **'विजए धणेण सत्थवाहेण सद्धिं एगंते अवक्कमइ, उच्चारपासवणं परिट्ठवेइ'** ऐसा पाठ है। इसका अर्थ होता है—विजय धन सार्थवाह के साथ एकांत में गया और मलमूत्र का त्याग किया। हमने सोचा यहां पाठ में विपर्यय है। यहां इस आशय का पाठ होना चाहिए कि धन सार्थवाह को मल-मूत्र के त्याग की आवश्यकता होती है और वह विजय तस्कर के साथ बाहर जाता है। इस दृष्टि से यहां पाठ होगा—**'धणे सत्थवाहे विजएण तक्करेण सद्धिं एगंते अवक्कमइ, उच्चारपासवणं परिट्ठवेइ।'** ताडपत्रीय आदि सभी प्रतियों में ऐसा पाठ नहीं मिला, परन्तु टब्बे की प्रति में यह पाठ उपलब्ध हुआ और हमने जो सोचा वह ठीक निकला।

तीसरे अध्याय के पांचवें सूत्र में **'पिट्ठपिंडी'** पाठ कुछ प्रतियों में मिलता है। यहां इसके स्थान पर **'पिट्टंडी'** पाठ चाहिए। मूल पाठ था—**'पिट्ठउंडी'**। वृत्तिकार ने उंडी का अर्थ पिंडी किया। यह वाक्यांश (पिंडी) मूल में संक्रान्त हो गया।

इस प्रकार आगमों के अनेक स्थल ऐसे हैं जहां मूल के साथ व्याख्यांश जुड़ गया है। इसको पृथक् कर मूलपाठ का निर्धारण करना बहुत आवश्यक है।

९. आगम के कुछ विमर्शनीय शब्द

मूल आगमों में ऐसे अनेक शब्द हैं जो विभिन्न दृष्टियों से विमर्शनीय हैं। मैं कुछ एक शब्दों का निर्देश तथा उसका यथासंभव समाधान प्रस्तुत कर रहा हूं।

१. कसायवसणेहि

यह शब्द प्रथम सूत्रकृतांग सूत्र (३।१५) के श्लोक में आया है। वह श्लोक इस प्रकार है—

अप्पेगे पलियतंसि, चारो चोरो त्ति सुव्वयं।
बंधंति भिक्खुयं बाला, कसायवसणेहि य।।

चूर्णिकार ने यहां '**कसायवसणेहि**' शब्द मानकर उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

'**कसायवसणेहि य' त्ति तत्पुरुषः समासः द्वन्द्वो वाऽयम्, सभावतः केचित् साधून् दृष्ट्वा कसाइज्जंति, वसणं केसिंचि भवति, कप्पडिगा पासंडिया वा होंति, णच्चावेंति।**' (चूर्णि पृ. १०५) अर्थात् कई व्यक्ति साधुओं को देखकर क्रोधित हो जाते हैं तो कई व्यक्ति उन्हें देखकर कष्ट का अनुभव करते हैं। कई उनको कार्पटिक या पाषंडिक मानते हैं, कई उनको नचाते हैं।

टीकाकार ने '**कसायवयणेहि**' शब्द मानकर उसका अर्थ—क्रोधप्रधान कटुकवचनों से किया है—'**क्रोधप्रधानकटुकवचनैः।**' लगता है चूर्णिकार द्वारा स्वीकृत पाठ मूल-परम्परा का संवाहक है। इस '**कसायवसणेहि**' शब्द से एक प्राचीन परम्परा का स्पष्ट संकेत मिलता है। प्राचीनकाल में गुप्तचर, जो एक राज्य से जाकर दूसरे राज्य में रहस्य संकलन करते थे, उन्हें तथा चोरों को कठोर दण्ड दिया जाता था और उन्हें लाल वस्त्र पहनाकर घुमाया जाता था। जब भिक्षु अनार्य देशों में जाते, तब वहां के राज्याधिकारी उन्हें गुप्तचर समझ कर पकड़ लेते और उन्हें लाल वस्त्र से बांध देते थे। इस श्लोक के अंतिम दो चरण इसी परम्परा की ओर संकेत करते हैं।

दूसरी बात है कि '**बंधंति**' क्रिया '**कसायवसणेहि य**' के साथ उचित बैठती है, '**कसायवयणेहि**' के साथ नहीं।

'**कसायवसणेहि**' शब्द आते-आते टीकाकाल में '**कसायवयण**' बन गया और इस प्राचीन परम्परा का अर्थ-बोध लुप्त हो गया।

२. दढ़धम्म और महारह

प्रथम सूत्रकृतांग सूत्र के तृतीय अध्ययन के प्रथम उद्देशक के पहले श्लोक के उत्तरार्ध में दो शब्द आए हैं—'दढधम्मा' और 'महारह'। सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकार है—

सूरं मण्णइ अप्पाणं, जाव जेयं न पस्सई।
जुज्झंतं दढधम्मा(न्ना ?)णं, सिसुपालो व महारहं।।

चूर्णिकार की व्याख्या के अनुसार लगता है कि उनके सामने **'दढधन्नाणं'** (सं. दृढ़धन्वानम्) पाठ रहा है। क्योंकि उन्होंने इसका अर्थ **'दृढ़ धनुष्य वाला'** किया है—**'दृढं' धनुर्यस्य स भवति दृढ़धन्वा तम्।'**

लिपि-दोष या अन्य किसी कारण से टीकाकाल में **'दढधम्माणं'** हो गया। प्रसंग शिशुपाल का है और यह एक विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। टीकाकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—**दृढः—समर्थो धर्मः—स्वभावः संग्रामाभंगरूपो यस्य स तथा तम्'** संग्राम में अविचलित स्वभाववाला।

प्रसंग और पौर्वापर्य की दृष्टि से चूर्णिकार का स्वीकृत पाठ उचित लगता है।

इस श्लोक का दूसरा विमर्शनीय शब्द **'महारह'** है। टीकाकार ने इसका अर्थ—**महान् रथोऽस्येति महारथः**—'महान् रथ वाला' किया है। चूर्णिकार ने **'महारह'** का अर्थ-मघारथ—केसव किया है—मघारथो केसवो।

'महारह' शब्द का सामान्यतः प्रचलित अर्थ महान् रथ वाला होता है, किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह सामान्य अर्थवाची न रहकर विशेष अर्थ का द्योतक होना चाहिए। यहां मुख्यरूप से 'शिशुपाल' का प्रसंग प्राप्त है और उसमें उसके प्रतिपक्षी के रूप में **'महारथ'** से कृष्ण का अर्थ ग्रहण होना चाहिए। इस प्रसंग में पूरे चरण का अर्थ यों होगा—जब तक शिशुपाल दृढ धनुषधारी, युद्ध करते हुए कृष्ण को नहीं देख लेता........।

पंडित बेचरदासजी ने **'महारह'** शब्द की मीमांसा श्रीरत्नमुनि स्मृति ग्रंथ (पृ. १०१-१०२) पर की है और उसे 'कृष्ण' का वाचक माना है और उसके समर्थन में शिशुपाल वध (३।२२) तथा मल्लिनाथ की टीका की ओर भी संकेत किया है।

परन्तु उन्होंने चूर्णि का कोई संकेत नहीं दिया। यद्यपि चूर्णिकार ने **'महारथ'** से केसव अर्थ ग्रहण किया है। परन्तु महारथ का अर्थ केसव कैसे होता है? इसका कोई समाधान प्राप्त नहीं है। यद्यपि मूल पाठ को (मघारह) मानें तो भी मघा का अर्थ 'महामेघ' होता है और महामेघ रथ है जिसका वह मघारथ होता है अर्थात् 'इन्द्र'। कृष्ण के पर्यायवाची नामों का उल्लेख करते

हुए कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य अभिधानचिन्तामणि कोष (२।१२८) में **'इन्द्रानुजः' 'उपेन्द्रः'** आदि शब्द तो देते हैं किन्तु इन्द्र या मघारथ नहीं।

यदि हम **'महारह'** का एक विशेषणमात्र मानकर चलें तो भी एक दूसरी विधि से हमें समाधान मिल जाता है।

कृष्ण का एक नाम **'सुधन्वा'**[1] भी है। **'सुधन्वा'** और **'दृढ़धन्वा'** शब्द के निरुक्त में अन्तर हो सकता है, किन्तु मूल तात्पर्यार्थ में कोई अन्तर नहीं हो सकता। अतः हम **'दृढ़धन्वा'** कृष्ण का वाचक मानकर **'जुज्झंतं'** तथा **'महारह'** को विशेषण मानें तो भी कोई आपत्ति नहीं आती।

१०. दक्षिण यात्रा और आगम-सम्पादन

वि. सं. २०२३ का मर्यादा-महोत्सव बीदासर में था। विभिन्न प्रान्तों के हजारों नर-नारी उपस्थित थे। सुदूर दक्षिण प्रान्त के भाई-बहन भी 'दक्षिण' की प्रार्थना लेकर पहुंच गए थे। आचार्यश्री ने उनकी प्रार्थना सुनी। दूसरे दूसरे प्रान्तों के लोगों ने भी दक्षिण-यात्रा का समर्थन किया। उस दिन सारा वातावरण दक्षिण-यात्रामय हो रहा था। सब यही कह रहे थे—'आचार्यश्री ने अपने आचार्य-काल में अनेक प्रान्तों में विचरण किया है। केवल दक्षिण भाग ही आचार्यश्री के चरण-स्पर्श से अछूता रहा है। अवस्था भी बढ़ रही है। अतः दक्षिण-यात्रा जितनी जल्दी हो जाए उतना ही अच्छा है।' दक्षिणवासियों की प्रार्थना के शब्दों के साथ ये शब्द भी मिल गए। प्रार्थना बलवती हुई। आचार्यश्री ने दक्षिण-यात्रा की घोषणा कर दी। सारा वातावरण प्रफुल्लित हो उठा।

यात्रा के निर्णय के साथ-साथ आचार्यश्री ने कहा—'यात्रा बहुत लम्बी है। जो साहित्य-कार्य हमने प्रारम्भ कर रखा है उसमें शैथिल्य न आए इसका भी हमें ध्यान रखना है। सभी साहित्यिक कार्यों में 'आगम सम्पादन' का कार्य प्रधान है। उसे हम सदा प्रधानता देते रहे हैं और आगे भी उस कार्य में तीव्रता आए, यह अपेक्षित है। मैं मानता हूं कि एक ओर सुदूर दक्षिण की यात्रा है और दूसरी ओर 'आगम-सम्पादन' का बृहत्तर कार्य। दोनों की दो दिशाएं हैं। यात्रा

---

१. अभिधानचिन्तामणिकोश, शेषस्थ, पृ. ६२, ला. २७।

गति-सापेक्ष है और आगम-सम्पादन-कार्य स्थिति-सापेक्ष। किन्तु हमें गति में स्थिति और स्थिति में गति को बनाए रखकर चलना है।'

बीदासर से हम जोधपुर की ओर चले। यात्रा में आगम-संबंधी कौन-से कार्य करने हैं, उनका निश्चय हुआ और तदनुसार सारे कार्यकर्त्ता साधु-साध्वी उनमें जुट गए।

प्रातः आठ-दस मील का विहार कर आचार्यश्री किसी गांव में विश्राम लेते। उस समय कुछ प्रवचन कर **'उत्तराध्ययन के समीक्षात्मक अध्ययन'** का पुनः अवलोकन करते। आहार और विश्राम से शीघ्र ही निवृत्त हो, पाठ-संशोधन में लग जाते। आगम-सम्पादन कार्य के प्रधान सम्पादक निकाय सचिव मुनिश्री नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) तथा उनके सहयोगी सन्त भी पाठ-संशोधन में लग जाते। लगभग दो घंटों का समय इसमें लगता। इस यात्रा में रायप्रश्नीय तथा औपपातिक सूत्रों के निर्धारित पाठ का पुनः अवलोकन किया गया। इनका पाठ-निर्धारण कई वर्षों पूर्व हो चुका था, किन्तु उस समय 'जाव' आदि संक्षिप्त-स्थलों की पूर्ति नहीं की गई थी। इस बार सब पूरक अंश यथास्थान नियोजित कर दिए गए। बीदासर-चतुर्मास में भगवती सूत्र के पाठ-संशोधन का कार्य प्रारम्भ किया था। किन्तु भगवती के अनेक स्थलों में रायप्रश्नीय, औपपातिक, प्रज्ञापना आदि-आदि सूत्रों की 'भोलावण' 'जाव' आदि के द्वारा दी गई। अतः हमने मूल भगवती के पाठ-संशोधन का कार्य स्थगित कर पूरक सूत्रों का पाठ-संशोधन प्रारंभ किया।

आज के विद्वानों की यह सामान्य धारणा है कि बौद्ध-साहित्य जितना विशाल और सरस है उतना जैन-साहित्य नहीं है। यह धारणा कुछ दृष्टि से ठीक भी है। आज तक जितने भी मूल-पाठ के संस्करण प्रस्तुत हुए हैं, वे प्रत्येक आगम को पूर्णरूप से प्रकट नहीं करते। उनमें वही संक्षिप्त शैली अपनाई गई है, जो कई शताब्दियों पूर्व सम्मत थी। इसी संक्षेपीकरण के कारण कई स्थल इतने नीरस और भ्रामक हो गए कि आज उनकी यथार्थ स्थिति को ढूंढ निकालना भी कठिन हो गया है। हमने यथासम्भव सभी पाठों को पूरा कर देने का प्रयत्न किया है। इस प्रणाली से ग्रंथ का कलेवर अवश्य बढ़ा है, किन्तु उसकी सरसता भी उसी परिमाण से वृद्धिंगत हुई है। भगवती का पाठ-संशोधन करते समय हमें अनेक बार यह अनुभव हुआ कि जो स्थल संक्षिप्त होने के

कारण नीरस लगते थे, उन्हें जब पूरा कर पढ़ा गया, तब वे बहुत ही सरस लगने लगे।

आचार्यश्री अनेक बार कहते हैं—आगम-सम्पादन के विविध कार्यों में पाठ-संशोधन का कार्य सबसे महत्त्वपूर्ण है। पाठ-निर्धारण का अर्थ केवल यही नहीं कि प्राचीन प्रतियों के विभिन्न पाठों को शोधकर एक पाठ को मुख्य मान लिया जाए। अभी-अभी निशीथ सूत्र के पाठ का संशोधन हुआ। कई स्थलों पर पाठ का अर्थ सहजगम्य नहीं हो पा रहा था। तब एक दिन आचार्यश्री ने कहा—'हमें निशीथ सूत्रों को भाष्य व चूर्णि के साथ-साथ पढ़ना है।'

वैशाख का महीना। चिलचिलाती धूप में बारह मील का विहार। गुजरात का प्रदेश। हम प्रातः कच्चे रास्ते से चले और लगभग सवा दस बजे सांतलपुर पहुंचे। विहार बहुत लम्बा था। आचार्यश्री से निवेदन किया कि साथ में वृद्ध, बाल, ग्लान साधु-साध्वियां हैं। इतना लम्बा विहार उनके लिए अशक्य है। इस प्रार्थना से पूर्व आचार्यश्री ने लम्बे विहार का निर्णय कर लिया था, अतः संकल्प की भाषा में कहा—'मैं निश्चय कर चुका हूं, इस निश्चय की घोषणा भी हो चुकी है। मुझे तो सांतलपुर पहुंचना ही है। जो असमर्थ हैं, वे दूसरे रास्ते से सायंकाल तक पहुंच सकते हैं। इस कथन से साधुओं ने कुछ सोचा और सभी लम्बे विहार के लिए चल पड़े। एक संत के घुटने में दर्द उठा, इसलिए वे दस मील वाले गांव में रुके और उनकी परिचर्या में दो मुनि और रहे। शेष सभी यथासमय स्थान पर पहुंच गए। साधु-साध्वियां पानी लेकर दूर तक सामने आ गए थे। आचार्यश्री ने तथा संतों ने पानी पिया। आज सूर्य पीठ के पीछे था और ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही थी। अतः क्लान्ति कुछ कम हुई। विहार से आते ही आचार्यप्रवर ने 'शिथिलीकरण' प्रारम्भ कर दिया। साथ वाले श्रावकों ने सोचा, आज आचार्यश्री बहुत थक गए हैं, इसीलिए सो रहे हैं। कुछ विश्राम कर आचार्यप्रवर अपने कार्य में लग गए। हमने सोचा कि आज आगम-पाठ-संशोधन का कार्य स्थगित रहेगा, परन्तु विश्राम कर उठते ही आचार्यश्री ने संतों को बुला भेजा और पाठ-संशोधन का कार्य प्रारम्भ कर दिया।

आचार्यश्री ने कहा, 'विहार चाहे कितना ही लम्बा क्यों न हो, आगम-कार्य में कोई अवरोध नहीं होना चाहिए। आगम-कार्य करते समय मेरा मानसिक तोष इतना बढ़ जाता है कि समस्त शारीरिक क्लान्ति मिट जाती है। आगम-कार्य हमारे लिए खुराक है। मेरा अनुमान है कि इस कार्य के परिपार्श्व

में, अनेक-अनेक साहित्यिक प्रवृत्तियां प्रारम्भ होंगी जिनसे हमारे शासन की बहुत प्रभावना होगी।'

सायं के चार बजे थे। आचार्यश्री के पास 'निशीथ' का वाचन प्रारंभ हुआ। अध्ययनार्थी साधु-साध्वी वाचन में सम्मिलित हुए। प्रतिदिन लगभग एक घण्टे तक यह वाचन चलता है और साथ-साथ अनेक तथ्य प्रकाश में आते जाते हैं। उदाहरण के लिए निशीथ के बीसवें उद्देशक के अनेक सूत्र ऐसे हैं जिनका हार्द मूल से स्पष्ट नहीं होता। भाष्य-चूर्णि के पढ़ने से इनका हार्द स्पष्ट हुआ और यह बात ध्यान में आयी कि कहीं-कहीं ग्रन्थकार ने अनेक सूत्रों को एक ही सूत्र में समाहित कर दिया (देखो—सूत्र १३,१४)।

आचार्यश्री ने कहा—'निशीथ सूत्र के वाचन का मेरा अभिप्राय यही था कि जो तत्त्व मूल सूत्र से स्पष्ट नहीं होते वे भाष्य-चूर्णि के वाचन से बहुत स्पष्ट हो जाते हैं और इससे मूल-पाठ के निर्धारण में सहायता मिलती है। जो यहां सुनते हैं, उनके लिए वाचन का अभिप्राय कुछ और हो सकता है, जैसे—ऐतिहासिक तथ्यों का ज्ञान, भाष्य, चूर्णिगत अनेक-अनेक तथ्यों की जानकारी आदि-आदि।

पाठ-निर्धारण करते समय इस प्रकार की अनेक प्रक्रियाएं काम में ली जाती हैं।

प्रतिदिन दोनों समय विहार होते हैं, परन्तु आगम-कार्य इसी उत्साह व वेग से आगे चलता जाता है। विभिन्न मुनि भिन्न-भिन्न कार्यों में लगे हुए हैं और कार्य अपनी गति से चल रहा है।

यात्रा के दौरान वर्तमान में निम्न कार्य चल रहा है—

१. औपपातिक सूत्र का पाठ-निर्धारण।

२. समवायांग सूत्र के अनुवाद, संस्कृत-छाया तथा पाठ का पुनः अवलोकन तथा उनके अंतिम रूप का निर्धारण।

३. आचारांग सूत्र का शब्दानुक्रम।

४. 'उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन' का पुनः अवलोकन तथा अंतिम रूप का निर्धारण।

५. दशवैकालिक तथा उत्तराध्ययन निर्युक्ति का अनुवाद।

६. नन्दी सूत्र की भूमिका।

११. प्राकृत भाषा और आगम-संपादन पर डॉ. उपाध्ये के विचार

आचार्यश्री तुलसी जयसिंगपुर से हुबली जाते हुए दिनांक २६ मार्च ६८ को कोल्हापुर पधारे। प्रातःकाल नागरिक अभिनन्दन हुआ। मध्याह्न में अनेक व्यक्ति सम्पर्क में आए और वैयक्तिक, सामाजिक और धार्मिक प्रश्नों का समाधान पा बहुत संतुष्ट हुए। आगन्तुकों का तांता-सा लग गया, अतः आचार्यश्री उनमें व्यस्त थे।

मध्याह्न के लगभग तीन बजे डॉ. ए. एन. उपाध्ये वहां आए। साधु-साध्वियों की गोष्ठी में उन्हें भाषण देने के लिए कहा गया। मुनिश्री नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) के सान्निध्य में साधु-साध्वी एकत्रित हुए और गोष्ठी प्रारंभ हुई। डॉ. उपाध्ये ने कहा—

'आज मैं आपके समक्ष **'प्राकृत भाषा और आगम सम्पादन'** के विषय में कुछ विचार व्यक्त करूंगा। मैं कर्नाटक में जन्मा और मेरी शिक्षा-दीक्षा उसी प्रदेश में हुई। मेरी मातृभाषा भी कन्नड़ रही है और पढ़ना-पढ़ाना अंग्रेजी में चलता रहा है। इसलिए हिन्दी बोलने में कुछ भूलें हो सकती हैं, किन्तु भावों की शृंखला नहीं टूटेगी।

मैं जीवनभर प्राकृत भाषा का अभ्यासी रहा हूं और उस भाषा के संबंध में बहुत बारीकी से जानने की इच्छा सदा बनी रही है। मैंने उभरती हुई जिज्ञासाओं को समाहित करने का यथाशक्य प्रयास भी किया है। परन्तु आज भी मैं इस स्थिति में नहीं हूं कि यह कह सकूं कि भाषा का सांगोपांग अध्ययन कर लिया है। इस भाषा में मुझे अध्यापन कराने का अवसर मिलता रहा है, अतः उसके मूल तक पहुंचने का प्रयास भी होता रहा है।

प्राकृत भाषा का अभ्यास कैसे किया जाए तथा उसकी समृद्धि के क्या क्या हेतु हो सकते हैं—इन प्रश्नों के संदर्भ में जो अनुभव मिला, वह मैं आपके समक्ष रख रहा हूं।

प्रत्येक काल में दो वर्ग अवश्य रहे हैं—

१. विद्वद्वर्ग

२. साधारण वर्ग

विद्वद्वर्ग सदा परिष्कृत भाषा में लेखन करते थे। उनकी भाषा नियमों से

बद्ध होती थी, अतः प्रत्येक विद्वान् उसी सीमा में रहकर भाषा का प्रयोग करता था। वैसी भाषा केवल विद्वद्योग्य ही रहती थी, जन-मानस से उसका सम्पर्क नहीं-सा रहता था।

एक विद्वान् जब दूसरे विद्वान् से खास विषय की चर्चा करता, तब उसकी भाषा दूसरी होती थी और जब वह एक सामान्य व्यक्ति से बोलता तब भाषा के प्रयोग बदल जाते थे।

साधारण वर्ग की बोल-चाल की भाषा अनिश्चित होती थी। व्याकरण के नियम उसे बांध नहीं सकते थे। लोग मनमाने प्रयोग करते और वे प्रचलित हो जाते थे। परस्पर समझाव ही भाषा का ध्येय था।

संस्कृत भाषा

मेरा यह कथन कटु हो सकता है, परन्तु सत्य से परे नहीं कि पाणिनि, पतंजलि और कात्यायन—इन तीनों ने संस्कृत भाषा की एक तरह से हत्या ही कर दी। इन्होंने इस भाषा के लिए एक आदर्श व सुदृढ़ ढांचा तैयार कर दिया। व्याकरणबद्ध भाषा की स्थिति मृतवत् हो जाती है। संस्कृत भाषा कभी भी जनभाषा नहीं रही है। इसका मूल कारण भी उसकी व्याकरणबद्धता है। यह केवल विद्वद्वर्ग की भाषा थी। वे जब आपस में चर्चा करते तब इस भाषा का प्रयोग करते थे और जब वे जन-साधारण से मिलते तो जन-सामान्य की भाषा में बोलते थे। एक बात और है कि जन-सामान्य को संस्कृत भाषा पढ़ने का अधिकार नहीं था। यह भाषा संकुचित और कुछ एक लोगों की भाषा मात्र बन कर रह गई। आज उसके अध्ययन-अध्यापन के लिए कॉलेज खुले हैं, अतः जन-साधारण की पहुंच भी वहां तक हो सकी है।

प्राकृत भाषा

प्राकृत जीवन्त भाषा थी, क्योंकि वह जन-भाषा थी। राज्य-सत्ता के परिवर्तन के साथ-साथ भाषा का परिवर्तन भी होता है।

जब गणराज्यों का विकास हुआ, तब जन-सामान्य की भाषाओं का भी विकास हुआ। प्राकृत भाषा जन-भाषा रही है। भगवान् महावीर के समय जो गणराज्य थे, वहां के जन-सामान्य की भाषा प्राकृत थी। पाली भाषा भी एक प्राकृत ही है।

प्राकृत भाषा जब ग्रंथित हुई तब उसकी भी वही स्थिति हुई जो संस्कृत की हुई थी। वह भी मृत-सी हो गई, किन्तु उसमें से अन्य भाषाओं का विकास होता रहा। क्योंकि वह जनभाषा रही। अतः उसका स्रोत रुका नहीं।

जैन आचार्यों ने प्राकृत के विकास में बहुत योग दिया है। उन्होंने भाषा का कभी अभिमान नहीं किया। वे सदा लोक-भाषा में बोलते और उसी में लिखते। वे जहां जाते वहीं की भाषा सीख लेते थे। इसी कारण तमिल, कन्नड़ में ही विपुल जैन-साहित्य मिलता है।

ईसवी सन् की चौथी शताब्दी तक के जितने शिलालेख प्राप्त होते हैं, वे प्रायः प्राकृत भाषा में हैं। गुप्तकाल से संस्कृत में शिलालेख प्राप्त होते हैं।

आज भी जैन भंडारों में जितने जैनेतर ग्रंथ प्राप्त होते हैं, उतने जैन-ग्रंथ जैनेतर भंडारों में प्राप्त नहीं होते। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जैन आचार्य समन्वय की दृष्टि को लेकर चले थे और उनकी अभ्यास की दृष्टि भी विशाल थी।

आज बौद्ध-साहित्य पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। बौद्ध-ग्रंथों का अभ्यास पाश्चात्य विद्वानों ने पहले से प्रारंभ कर दिया था और जब वह धर्म भारत से बाहर अनेक देशों में व्याप्त हुआ तब विभिन्न भाषाओं में उनका अनुवाद हुआ और स्थानीय विद्वान् उनके प्रति आकृष्ट हुए।

जैन धर्म भारत में उत्पन्न हुआ और मुख्यतः उसी में फला-फूला। प्राकृत जन-भाषा थी। जैनागम उसी में लिखे गए।

समाज में जो विशिष्ट आचार्य हुए, उन्होंने आगमों का अभ्यास किया। उसमें शीलांकसूरि, अभयदेव, मलयगिरि आदि मुख्य हुए हैं। पाश्चात्य विद्वानों में यह कम प्रचलित रहा। फिर भी वेबर, लॉयमान, पिशेल, याकोबी, शारपेण्टियर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने आगमों पर बहुत कुछ लिखा है।

पाश्चात्य विद्वान् आगमिक ग्रंथों का अध्ययन दो दृष्टियों से करते थे—भाषा की दृष्टि से तथा सांस्कृतिक दृष्टि से। किन्तु भारतीय लोगों में इन दृष्टियों का कम विकास हुआ। वे केवल उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से पढ़ते थे।

आज शासन में चौदह भाषाओं को मान्य किया गया है। मेरी अपनी मान्यता है कि उनमें से कइयों का विकास प्राकृत और अपभ्रंश के आधार पर हुआ है। अपभ्रंश को पढ़ने पर गुजराती, पजाबी, महाराष्ट्री आदि भाषाओं में

विशेष अन्तर मालूम नहीं पड़ता।

प्राकृत भाषा में अनेक ग्रंथों का निर्माण हुआ। इस भाषा के प्रयोग इतने प्रचलित थे कि अन्यान्य ग्रंथकारों ने भी इन्हें वैसे ही अपना लिया। ज्ञानेश्वरी में प्राकृत तथा अपभ्रंश के अनेक प्रयोग मिलते हैं। प्राचीन नाटकों में एक तिहाई भाग प्राकृत में रहता था। जैनेतर विद्वानों ने भी कई प्राकृत-ग्रंथ लिखे हैं। जैसे उत्तर में वैसे दक्षिण में भी वे लिखे गए हैं।

आगम-सम्पादन

पाठ-सम्पादन के लिए कई नियम अपेक्षित माने जाते हैं। लॉयमान्, याकोबी तथा शुब्रिंग आदि विद्वानों ने अपने सम्पादित ग्रंथों में कुछ एक मानदण्डों का उल्लेख किया है, किन्तु मुझे लगता है कि उनमें भी कई परिवर्तन अपेक्षित हैं। आधुनिक व्याकरण के नियमों के अनुसार पाठ-सम्पादित हो, यह मुझे इष्ट नहीं है। आज के जैन विद्वानों पर हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के संस्कार का प्रभाव है। आचार्य हेमचन्द्र ने व्यापक दृष्टि से व्याकरण की रचना की थी। उनके व्याकरण में जैन आगमों के बहुत कम उदाहरण प्राप्त होते हैं। बहुत सारे उदाहरण अन्यान्य ग्रंथों से लिए गए हैं। इससे यह निष्कर्ष स्वतः निष्पन्न होता है कि उन्होंने आगमिक आधार पर व्याकरण की रचना नहीं की थी, उनका दृष्टिकोण व्यापक था। पाठ-निर्धारण में प्राचीन प्रतियों का आधार लिया जाना चाहिए, न कि हेम-व्याकरण का। यह प्रणाली कष्ट-साध्य अवश्य है, परन्तु है सुरक्षित और अपेक्षणीय।

आज भी जैन आगम ग्रंथों की प्राचीनतम प्रतियां जैसलमेर, पाटण आदि भंडारों में उपलब्ध होती हैं। किन्तु वर्तमान में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि प्राचीन प्रतियों को पढ़ने वाले तथा उनकी प्रतिलिपि करने वाले बहुत कम व्यक्ति रह गए हैं। श्रमण वर्ग यह कर सकता है। आगम का प्रामाणिक ग्रंथ-सम्पादन अत्यंत श्रमसाध्य है।

मैंने संक्षेप में अपने विचार व्यक्त किए हैं। आप सब प्राकृत आदि भाषाओं के अभ्यासी हैं और उनमें पढ़ते लिखते हैं। अब इन भाषाओं का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से भी होना चाहिए।

आपने मुझे प्रेमपूर्वक सुना, इसके लिए मैं आपका आभारी हूं।

१२. आगम-कार्य पर डॉ. रोथ के विचार

सचमुच डॉ. रोथ ने ठीक ही कहा था कि जिस प्रकार से आपकी शास्त्र-सम्पादन की योजना चल रही है उसके अनुसार आपको इस कार्य में पचास वर्ष लग जायेंगे। उस समय हमें इस गुरुता का बोध नहीं था। पर ज्यों-ज्यों शास्त्र-सागर में उतरने का अवसर मिला कि उसकी गहराई विज्ञात होती चली गई। अब पचास वर्ष की अवधि बहुत लम्बी नहीं लगती। एक दशवैकालिक सूत्र ने ही इतना समय ले लिया, जिसे कल्पनाक्रांत ही कहा जा सकता है। उत्तराध्ययन सूत्र का कार्य यों तो प्रायः सम्पन्न हो चुका है, पर ज्यों-ज्यों नई चीजें मिलती जा रही हैं त्यों-त्यों वह और अधिक लम्बा होता चला जा रहा है। साथ ही साथ स्थानांग, समवायांग, उपासकदशा तथा पांचों निरयावलिकाओं का भी अनुवाद हो चुका है। उनके कुछ-कुछ टिप्पण भी लिखे जा चुके हैं।

पाठ-संशोधन की दृष्टि से दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नंदी, अनुयोगद्वार, सूत्रकृतांग, समवायांग, उपासकदशा, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिक, विपाक, औपपातिक, राजप्रश्नीय तथा पांच निरयावलिकाओं—कुल अट्ठारह सूत्रों का पाठ-संशोधन भी हो चुका है। पाठ-संशोधन का कार्य भी कम जटिल नहीं है। इसीलिए पाठ-संशोधन के लिए पांच वर्षों की अवधि का प्रतिबंध अब संभव नहीं है।

यद्यपि शास्त्र-कार्य में समय तो कल्पना से कुछ अधिक ही लग रहा है, पर यह कह देना भी शायद अनुपयुक्त नहीं होगा कि कार्य भी कल्पना से कुछ अधिक ही हो रहा है। हमारे कार्य के प्रति हमारा तो गुरु-दृष्टिकोण रहना सहज ही है, पर इस बार वैशाली जैन प्राकृत विद्यापीठ के डायरेक्टर डॉ. नथमलजी टांटिया ने भी जब इस कार्य को देखा तो वे गद्‌गद हो गए। उन्होंने कहा—'यह अपने ढंग का एक अद्वितीय प्रयास है। दूर बैठे हम लोग इस कार्य की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। पर जब प्रत्यक्ष इस कार्य को देखा तो पता चला—हम लोग लाखों रुपये व्यय करके भी इतना सुन्दर सम्पादन नहीं कर सकते। हमारा बहुत बड़ा सौभाग्य होगा कि सारे शास्त्र हमारे विद्यापीठ की ओर से प्रकाशित हों। अभी तो हम आचार्यश्री तथा श्रमणसंघ से यही प्रार्थना करते हैं कि हमें कम से कम दशवैकालिक के प्रकाशन का तो अवसर अवश्य दें।

१३. वैभार पर्वत : आचार्य तुलसी का संकल्प

जैन-दर्शन के जर्मन विद्वान् डॉ. रोथ **'भगवान मल्लिनाथ'** पर थीसिस लिख रहे थे। इसी प्रसंग में कुछेक जिज्ञासाओं को लेकर वे आचार्यश्री तुलसी के पास आए। उन दिनों आचार्यश्री सरदारशहर में थे। आगम-कार्य चल रहा था। प्रश्नों का क्रम चला। साथ-साथ समाधान भी मिलता गया। उनकी कार्य-निष्ठा और कार्य के प्रति एकाभिमुखता प्रेरणाप्रद थी।

आचार्यश्री के कुशल-निर्देशन में चल रहे 'आगम-शोधन' कार्य की उन्हें जानकारी दी गई। उन्होंने कार्य देखने की इच्छा व्यक्त की।

आगम-कार्य में जुटे हुए कतिपय साधु एक कमरे में कार्य-संलग्न थे। मुनिश्री नथमलजी सभी का यथोचित मार्गदर्शन कर रहे थे। डॉ. रोथ वहां आए। उन्होंने कार्य को देखकर प्रसन्नता प्रकट की, अनेक सुझाव भी दिए। उनके हाथ में 'सुत्तागम' की एक प्रति थी। मुनिश्री नथमलजी ने कहा—यह पुस्तक कैसे ले रखी है? यह तो अशुद्धि-बहुल है।

उन्होंने कहा—'मुनिजी! यह मैं जानता हूं कि यह त्रुटियों से भरी पड़ी है। परन्तु एक ही स्थान में आगमों का मूल पाठ एकत्र मिलता तो है, अन्यत्र वह भी दुर्लभ है। इसी से संतोष मान रखा है।' हमने उनकी भावना को ताड़ते हुए उनके विचार का समर्थन किया।

आचार्यश्री के मन में पाठ-संशोधन की भावना प्रज्वलित थी। डॉ. रोथ के विचारों ने उस भावना को और उभारा। अति व्यस्त रहते हुए भी आचार्यश्री ने दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी, बृहत्कल्प, निशीथ, अनुयोगद्वार आदि छह सूत्रों का पाठ संशोधित किया। पाठ-संशोधन में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। जितनी हस्तलिखित प्रतियां थी उतने ही पाठान्तरों को देखकर पाठ-निर्धारण का कार्य दुरूह-सा प्रतीत होने लगा। परन्तु आचार्यश्री की बहुश्रुतता से पग-पग पर प्रकाश की रेखाएं प्रस्फुटित होती दीखीं। ज्यों-त्यों अन्वेषणपूर्ण पाठ-निर्धारण का कार्य सम्पन्न हुआ।

सभी आगमों के पाठ-संशोधन के विचार आते रहे, परन्तु अर्थ-निश्चय और पौर्वापर्य की निश्चिति के बिना पाठ-निर्धारण का कार्य सुगम प्रतीत नहीं हुआ। विचार-मंथन चलता रहा। दशवैकालिक सूत्र के कार्य-काल में यह विचार सुदृढ़ हो गया कि अनुवाद के कुछ पूर्व ही पाठ का निर्धारण किया जाना चाहिए।

राजगृह में **'जैन संस्कृति समारोह'** का विशद आयोजन था। अनेक जैन विद्वान् और जैन-दर्शन में रस लेने वाले जैनेतर विद्वान् उपस्थित थे। जैन समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों की उपस्थिति भी अपर्याप्त नहीं थी। पूना से एन.वी. वैद्य आए हुए थे। 'आगम-संशोधन' के विचार-विमर्श के लिए विद्वानों की एक गोष्ठी आचार्यश्री के सान्निध्य में रखी गई। प्रो. वैद्य ने इसमें पूर्ण रस लिया। उन्होंने आचार्यश्री से निवेदन किया–'जैनागमों के कार्य के प्रति जैन लोगों की उपेक्षा को देख मैं हताश हो गया था। इसका मुख्य कारण था साहित्य का अभाव। सत्प्रयत्नों से पूना के कॉलेज में जैन-दर्शन का कक्ष खोला गया। अधिकारी व्यक्तियों ने आगम-साहित्य मांगा। ज्यों-त्यों मैंने एक-दो पुस्तकें पाठ्यक्रम के लिए दीं। परन्तु मांग चालू रही। मैंने बहुत प्रयास किया, परन्तु उनकी मांग पूरी नहीं कर सका। आपकी कार्यशीलता को देखकर पुनः मेरे मन में आशा की एक लहर दौड़ गई है। आपके कुशल-निर्देशन और अनुपम संगठन से मुझे यह मानने में कोई हिचकिचाहट नहीं होती कि यह कार्य आप जैसे मनीषी और चिन्तकों द्वारा पूर्ण सम्पन्न होकर रहेगा। यह कार्य आपने उठाया है–यही इस कार्य की सुसम्पन्नता का परिचायक है। आगम-अनुवाद आदि कार्यों से पूर्व मूल-पाठ-निर्धारण का कार्य होना चाहिए–ऐसी मेरी नम्र प्रार्थना है। इस कार्य के लिए मैं अपने आपको प्रस्तुत करता हूं और अन्यान्य विद्वानों को भी जुटाने का वादा करता हूं। अभी अवकाश-ग्रहण करने में मेरे नौ वर्ष शेष हैं। यदि इस अवधि से पूर्व मैं अपने विद्यार्थियों को मूल आगम-पाठ का सुसम्पादित भाग दे सका तो मैं अपने भाग्य को सराहे बिना नहीं रहूंगा। अभिनव सम्पर्क से मैं विश्वस्त हो गया हूं कि यह कार्य शीघ्र हो जाएगा।' प्रोफेसर महोदय की भावनाओं में उत्साह था, कार्य करने की तन्मयता थी।

वैभार पर्वत के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखने आचार्यप्रवर ऊपर गए। 'सप्तपर्णी' गुफाओं के सामने चतुर्विध संघ की उपस्थिति भगवान् महावीर के 'समवसरण' की याद दिला रही थी। सबका दिल उमंगों से भरा था। आचार्यश्री ने मधुर वाणी में देशना दी। संघ-चतुष्टय ने भी अपनी-अपनी भावनाएं रखीं। आचार्यश्री ने वातावरण में विशेष चैतन्य उंड़ेलते हुए एक प्रतिज्ञा की कि 'आगामी पांच वर्षों में 'मूल-पाठ' का सम्पादन करना है।' प्रतिज्ञा की प्रतिध्वनि से सारा वैभार गूंज उठा।

आचार्यश्री के सामने मुख्यतः दो कार्य हैं—आगम-कार्य और अणुव्रत-प्रचार। एक स्थिति-सापेक्ष है, एक गति-सापेक्ष। एक अल्प व्यक्ति सापेक्ष है, एक समूह सापेक्ष।

आचार्यश्री में विलक्षणता है। वे दोनों को साथ लिए चलते हैं। परन्तु दोनों में कुछ-कुछ बाधाएं आती हैं। परन्तु आचार्यश्री की सतत प्रेरणा और संतों की कार्य-निष्ठा से पर्याप्त कार्य होता है, फिर भी इस कार्य को गति देने के लिए एक स्थान पर अवस्थिति की अपेक्षा रह जाती है। इस पर सोचा भी जाता है।

कई साधु और श्रावकों की इस कार्य के प्रति रुचि बढ़ी है और वे कार्य करना चाहते हैं। यह अच्छा है। यदि सभी अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार कार्य को बांट लेते हैं तो कार्य सम्पन्न होने में कोई बाधा नहीं आती। आगम-कार्य श्रद्धा, सातत्य और दीर्घकालिता सापेक्ष है। इस कार्य से व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति होती है, परन्तु वह कार्यानुषंगिक है। केवल महत्त्वाकांक्षाओं के पोषण के लिए जो इस कार्य में प्रविष्ट होते हैं वे कभी सफल नहीं हो सकते। आगम के कार्य-काल में हमने देखा है कि किस प्रकार पाठ और अर्थ की निश्चिति में आचार्यश्री को चिन्तन और मननशील रहना पड़ता है। इस कार्य को सहज व सरल समझना अविचारकता है।

पाठ-निर्धारण की इयत्ता यह है कि—प्राचीनतम प्रतियों से पाठ मिलाया जाए और आगम के पौर्वापर्य की संगति करते हुए किसी एक निश्चय पर पहुंचा जाए। तदनन्तर विशेष विमर्श और चिन्तन के द्वारा पाठ का निर्धारण किया जाए। इसका यह मतलब नहीं कि जो पाठ हमने निश्चित कर लिया वह अंतिम ही होगा। परन्तु आगे के विद्वानों के लिए भी विचार करने का क्षेत्र सदा खुला रहा है और रहेगा। भविष्य में तत्संबंधी जो विशिष्ट विचार आएंगे उन पर यथासंभव विचार किया जा सकेगा और अन्यान्य संस्करणों में उन्हें स्थान दिया जा सकेगा।

प्रचलित जैन सम्प्रदायों में पाठ-विषयक विशेष मतभेद नहीं है। मतभेद केवल अर्थ-निश्चय में है। ऐसी स्थिति में अन्वेषणपूर्ण प्रस्तुत किए जाने वाले पाठों का सभी सम्प्रदाय वाले स्वागत करेंगे और अपनाएंगे, ऐसी आशा है।

१४. आगम-कार्य : नए नए उन्मेष

वि. सं. २०१२ चैत्र शुक्ला १३ को आचार्यश्री तुलसी ने एक क्रांतिकारी कदम उठाते हुए आगम-सम्पादन की घोषणा की। उनकी देख-रेख में आगम-अन्वेषण का कार्य प्रारम्भ हुआ। कार्य पैंतालीस आगमों की संकलना के संकल्प से प्रारंभ हुआ। लगभग बत्तीस आगमों की शब्द-सूची उज्जैन चतुर्मास वि. सं. २०१२ के अन्त तक तैयार हो गई। इस कार्य में अनेक साधु-साध्वी लगे थे। कुछ समय बाद आगम-शब्दकोश का कार्य भी चला। छह आगमों का कार्य संपन्न हुआ। कार्य चल ही रहा था कि आचार्यश्री की यात्रा का कार्यक्रम बना और कलकत्ता की यात्रा प्रारंभ हो गई। इसलिए कोश का कार्य स्थगित कर देना पड़ा। दशवैकालिक सूत्र का कार्य चालू था। वह कलकत्ता के यात्राकाल में लगभग पूर्ण हो गया। उसके बाद उत्तराध्ययन, स्थानांग, समवायांग और निरयावलिका का कार्य भी क्रमशः सम्पन्न हुआ। सूत्रकृतांग आदि अठारह सूत्रों का पाठ-निर्धारण हुआ और वर्तमान में 'रायपसेणीय' सूत्र का पाठ-संशोधन हो रहा है। यात्रा के कारण समय का अभाव और सामग्री की अल्पता रहती है, फिर भी कार्य पूर्णतः स्थगित नहीं हुआ। वह अपनी गति से चलता रहा।

इस कार्यकाल में कार्यपद्धति में संशोधन, परिमार्जन होता रहा। समय-समय पर विद्वानों से विचार-विनिमय भी हुआ और आगम-कार्य की गतिविधि से अनेक विद्वान् परिचित हुए।

अनेक साधु-साध्वी इस कार्य की ओर आकृष्ट हुए। अनेक नवीन उन्मेष आए। साधुओं में आगम-ज्ञान के विविध स्रोतों को खोज निकालने के लिए साप्ताहिक गोष्ठियां चलीं। प्रति सप्ताह एक-एक मुनि अपने-अपने निर्धारित विषय पर भाषण करता। प्रश्नोत्तर भी चलते और अन्त में आगम-कार्य के प्रधान निर्देशक मुनिश्री नथमलजी उपसंहारात्मक भाषण करते हुए विषय पर विशद प्रकाश डालते। कभी-कभी यह गोष्ठी आचार्यश्री के सान्निध्य में भी चलती थी।

इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप साधुओं ने एक हस्तलिखित पत्रिका के प्रकाशन की बात सोची और कुछेक साधुओं—मुनि मधुकरजी, मुनि सुखलालजी, मुनिश्री चन्द्रजी ने त्रैमासिक शोध-पत्रिका 'एषणा' की रूपरेखा

आचार्यश्री से निवेदित की। आचार्यश्री ने इस योजना पर प्रसन्नता प्रकट की और उसे स्थायित्व देने पर बल दिया। 'एषणा' का प्रथम अंक आचार्यश्री के धवल-समारोह के प्रथम चरण पर आचार्यश्री को बीदासर में भेंट किया गया। उसमें आगम-संबंधी अनेक शोधपूर्ण लेख थे। आचार्यश्री ने उसका अवलोकन कर उसे विकसित करने तथा उसी प्रवृत्ति को साध्वी समाज में कार्यान्वित करने की बात कही। 'एषणा' के अनेक अंक निकले। विविध विषयों पर लिखे गए लेखों का एक सुन्दर संकलन सहज ही हो गया। साध्वियों में आगम तथा उसके व्याख्या-ग्रन्थों की परिशीलन की प्रवृत्ति बढ़ी। वृद्धिंगत अभिरुचि हमारे आगम-कार्य में सहयोगी रही।

दशवैकालिक सूत्र का प्रकाशन श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता ने प्रारंभ किया। कुछेक कारणों से वह कार्य अत्यन्त मंथर गति से चलने लगा। अब दशवैकालिक प्रकाशन-कार्य लगभग पूर्ति पर है।

दशवैकालिक को दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम भाग में दशवैकालिक सर्वेक्षण और मूल आदि है। द्वितीय भाग में मूल-पाठ, अनुवाद और टिप्पणियां हैं। प्रथम भाग के दशवैकालिक का समग्र दृष्टि से अध्ययन होता है और द्वितीय भाग में गाथा-क्रम से। प्रथम भाग में निर्युक्ति, चूर्णि और वृत्ति के विशिष्ट स्थल हैं और द्वितीय भाग में विशद टिप्पणियां हैं। दोनों भाग अपने आपमें स्वतंत्र होते हुए भी परस्पर संबद्ध हैं और परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी स्वतंत्र हैं।

आचार्यश्री की बलवती प्रेरणा का ही यह परिणाम है कि आज अनेक साधु-साध्वी इस कार्य की दिशा में उत्तरोत्तर प्रगति कर रहे हैं। ऐसा कोई ही दिन बीतता होगा कि जिस दिन आचार्यश्री आगम-कार्य को उत्साह से सम्पन्न करने की प्रेरणा न देते हों। मुनिश्री नथमलजी अहर्निश इस कार्य में मनोयोगपूर्वक लगे हुए हैं और यही कारण है कि यह गुरुतर कार्य आज कुछ सरल और सहज बन गया है।

आचार्यश्री चाहते थे कि और-और भी साधु-साध्वी इस कार्य में जुटते, परन्तु प्रचार-क्षेत्र की विस्तीर्णता तथा अन्यान्य कारणों से वैसा नहीं हुआ। कई विद्वान् गृहस्थ भी इसमें संलग्न रहते, परन्तु यह भी नहीं हो पाया। परन्तु कई श्रावकों ने इस कार्य में रुचि ली। उनमें श्री श्रीचंदजी रामपुरिया, श्री मदनचन्दजी

गोठी मुख्य थे। श्रीचंदजी प्रारंभ से ही इसमें संलग्न थे। उन्होंने कुछेक व्यावहारिक कठिनाइयों के बावजूद भी इस कार्य की सम्पन्नता में मनोयोग से कार्य किया है।

आगम कार्य स्थिति-सापेक्ष है—इस तथ्य को नहीं भुलाया जा सकता। परन्तु यात्रा के अंतराल में ही इस कार्य की उद्भावना हुई थी और संभवतः इसीलिए यह यात्राओं में ही चलना चाहता था। यात्राओं में जो कार्य चला वह पूर्णतः आशातीत था। लम्बे-लम्बे विहार, ग्रीष्म ऋतु की भयंकर गर्मी, सतत चलना आदि-आदि क्रियाओं में भी आगम-कार्य की अखण्ड आराधना मनोयोग और कर्तव्य-निष्ठा की परिचायिका थी। यथेष्ट साधन-सामग्री का अभाव सदा ही बना रहता, परन्तु जहां हम एक स्थान में रहते वह अभाव मिट-सा जाता।

कार्य गतिशील रहे यह सभी चाहते हैं, किन्तु गतिशीलता के हेतुओं को सभी नहीं समझते और जो समझते हैं वे उनकी कभी-कभी उपेक्षा भी कर बैठते हैं। यही कारण है कि कार्य में कुछ शैथिल्य आया है। अनावश्यक विलम्ब के अनावश्यक हेतु यदि न मिटेंगे तो कार्य आगे नहीं बढ़ पाएगा।

इस प्रकार यह कार्य अनेक अपेक्षाओं को लिए चल रहा है। वाचना-प्रमुख आचार्यश्री तुलसी का सतत प्रयत्न, प्रधान निर्देशक मुनिश्री नथमलजी का अविकल योग तथा साधु-साध्वियों का निरीह श्रम निश्चित ही सुन्दर फल ला पाएगा।

१५. आगम-कार्य की दिशा में

लगभग एक वर्ष पूर्व आचार्यश्री तुलसी ने वैभार गिरि की अधित्यका में चतुर्विध संघ के समक्ष यह घोषणा की थी कि आगामी पांच वर्षों में आगम पाठों का स्थिरीकरण करना है। उस समय राजगृह में समागत जैन विद्वानों ने इस घोषणा का हार्दिक स्वागत किया था। कई विद्वानों से विचार-विमर्श भी हुआ और इस कार्य की प्रारंभिक रूपरेखा बनाई गई। आचार्यश्री कलकत्ता पधारे। आठ मास की अविकल व्यस्तता से कार्य गतिशील नहीं बन सका। वहां से दो हजार मील की यात्रा कर आचार्यश्री राजनगर पधारे। तेरापंथ द्विशताब्दी के महत्त्वपूर्ण कार्यों में आपको अधिक समय लगाना पड़ा। पाठ-

संशोधन का कार्य गतिमान नहीं बन सका। द्विशताब्दी महोत्सव के दो चरण सानन्द सम्पन्न हुए। आचार्यश्री की कार्य-व्यस्तता उतनी नहीं रही। यात्रा भी हल्की हो गई। अतः आचार्यश्री ने पुनः उस कार्य को गति देने के लिए तीन-चार मुनियों को पाठ-संशोधन के कार्य में लगा दिया। मुनिश्री सुमेरमलजी 'सुदर्शन', मुनिश्री मधुकरजी तथा मुनिश्री हीरालालजी इस कार्य में अहर्निश संलग्न रहने लगे। उनके प्राचीन आदर्शों को सामने रख वे टीका-चूर्णि आदि से आगम-पाठों का मिलान करते और मुनिश्री नथमलजी से विचार-विमर्श कर मूल-पाठ और पाठान्तर आदि का निर्धारण कर लेते और अन्तिम निर्णय आचार्यश्री पर छोड़ दिया जाता। पाठ-निर्धारण का कार्य कुछ सरल-सा प्रतीत होता है, परन्तु वह वैसा नहीं है। आज जितने भी प्राचीन आदर्श हैं उनमें प्रायः पाठ-भेद मिलता है। इसके कई कारण हैं—प्राचीन आदर्शों को लिखते समय लेखकों के सामने जो प्रति रही, उसी के अनुसार उन्होंने प्रतिलिपि कर ली। लिखते-लिखते प्रमादवश या लिपि को पूरा न समझ सकने के कारण अक्षरों का व्यत्यय भी हुआ। कहीं-कहीं दृष्टि-दोष के कारण पद्य छूट गए या स्थानान्तर भी हो गए। यह उन लिपिकर्ताओं के विषय में है, जो केवल लिपिकर्ता ही थे, पाठ के विमर्शक नहीं।

जो व्यक्ति लिपि करने के साथ-साथ पाठ के पौर्वापर्य पर भी ध्यान नहीं देते, वे मूलार्थ को न समझ सकने के कारण तथा विपरीत समझने के कारण पाठ में संशोधन कर देते। यह कोई दुर्बुद्धि से नहीं होता, सहजतया किया जाता; परन्तु इससे पाठों में अत्यधिक विपर्यय हो गया। उन्होंने अपनी विचार-सामग्री को प्रधानता देकर तथा अपने चिन्तन की प्रौढ़ता पर अत्यधिक विश्वास कर नये पद्य अन्दर समाविष्ट किये या मूल पद्यों में ही परिवर्तन ला दिया। आज भी ऐसा ही होता है। जहां-जहां संशोधन होता है वहां वह संशोधित प्रति भी कालान्तर में नये संशोधकों के लिए पाठान्तर की कड़ी वाली एक प्रति बन जाती है। प्रत्येक विद्वान् अपनी-अपनी साधन-सामग्री से संशोधन करता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह सबके लिए अंतिम है। परन्तु हां, उस विशेष संशोधक के लिए उस समय तक वह अंतिम हो सकती है। नये-नये संशोधक अपनी-अपनी प्रचुर साधन सामग्री से कालान्तर में उस विषय पर और भी विशेष प्रकाश डाल सके। संशोधन का कार्य नये संशोधकों के लिए नये-नये द्वार उपस्थित करता है, नये-नये विराम-स्थल प्रस्तुत करता

है, ताकि अन्य संशोधक उस विराम को आधार बनाकर आगे सोच सकें।

प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय आदि में अविभक्त ही होता है परन्तु ज्यों-ज्यों वह विस्तार पाता है, उसकी अविभक्तता नष्ट होती जाती है। वह इसलिए कि विचारों के सतत प्रवहमान प्रवाह में नये-नये उन्मेष आते हैं। कई उन्मेष स्थायित्व पा लेते हैं और कई मिट जाते हैं। जो स्थायित्व पाते हैं उनको शनैः-शनैः विश्वास मिलता जाता है और कुछ ही समय के व्यवधान में वे दृढ़ बन जाते हैं। यह नये सम्प्रदाय या नये विचार के प्रादुर्भाव की कहानी है। जैन धर्म संघ भी इसका अपवाद नहीं है। भगवान् महावीर के समय में आज की सारी सापेक्षताएं थीं, विचार थे, नयवाद के आधार पर उनका समाधान भी था, परन्तु संघ अविकल था। न श्वेताम्बर-दिगम्बर का झमेला था और न अन्यान्य शाखा-प्रशाखाओं का। संघ अखण्ड था। संघ में प्रभावशाली नेतृत्व के अभाव में पृथक्त्व के बीज बोए, मिथ्याभिनिवेश या व्यक्ति-मोह से विचार-भेद पनपने लगे और धीरे-धीरे संघ की अखण्डता टूट गई। संघ अनेक इकाइयों में बंट गया। इतना होने पर भी आज की श्वेताम्बरीय शाखाओं में मूल-पाठ-भेद अत्यन्त अल्प है। उनमें मतभेद है तो केवल अर्थ की परम्परा दुरूह होती है, वह मिट नहीं सकती और यदि मिटती है तो जड़ता पैदा करती है। हमारा विचार है कि अर्थ-भेद के रहते हुए भी पाठ-भेद की परम्परा को मिटाया जा सकता है। इसी भावना को मूर्त रूप देने के लिए आचार्यश्री ने दो वर्ष पूर्व जैन विद्वानों को आह्वान किया था कि वे श्वेताम्बरीय आगम-पाठ-निर्धारण के विषय में कुछ कार्यक्रम प्रस्तुत करें ताकि शताब्दियों से चली आ रही पाठ-भेद की परम्परा एक बार समाप्त हो जाए। इस कार्य से जैन आगम की एकरूपता हो सकेगी जिससे कि रिसर्च स्कॉलर उस पर निश्चिन्तता से कार्य कर सकें। एकरूपता से स्थायित्व आता है और स्थायित्व से विश्वास पनपता है।

कार्य गतिमान है। उत्तराध्ययन पाठ-निर्धारण का कार्य चालू है और संभव है कि वह इसी मास के अन्त तक पूरा हो जाए। पाठ-निर्धारण की जटिलताएं कम नहीं हैं परन्तु यह आगम-कार्य का प्रथम और अत्यावश्यक सोपान है। इसकी उपेक्षा कर कोई भी विद्वान् इस क्षेत्र में कार्य नहीं कर सकता।

आचार्यश्री की सतत प्रेरणा तथा समय-समय पर मिलने वाले मार्गदर्शन

से यह कार्य शीघ्रता से सम्पन्न होगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। मुनियों की निःस्वार्थ सेवा से प्रवचन प्रभावना के साथ-साथ ज्ञानवृद्धि का स्रोत भी खुलेगा, ऐसा दृढ़ विश्वास है।

१६. सामूहिक वाचना का आह्वान

विचारों का इतिहास जितना पुराना है उतना ही पुराना विचार-भेद का इतिहास है। सभी के विचार एक-से मिलते हों यह कभी नहीं होता। इसलिए आचार्यप्रवर को कहना पड़ा—'**प्रत्येक व्यक्ति अपने आपमें एक सम्प्रदाय है। जितने व्यक्ति हैं, उतने ही सम्प्रदाय हैं।**'

आचार्य तुलसी ने आगमों की सामूहिक वाचना के लिए जैन समाज को आह्वान किया। फलस्वरूप कुछ प्रतिक्रियाएं भी हुईं। परन्तु जितनी अपेक्षा थी उसका एक अंशमात्र सामने आया।

काल के सुदूर व्यवधान से आगम-पाठों की अस्त-व्यस्तता सभी विद्वानों को चिन्तित किए हुए है। परन्तु साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण किसी में भी यह विश्वास नहीं रहा कि सामूहिक रूप से भी कुछ किया जा सकता है। इस अविश्वास की वृत्ति ने परस्पर के संबंधों के बीच एक खाई खोद डाली है, जिसको पाटना दुष्कर कार्य-सा हो रहा है। सभी अपने आपमें एक-दूसरे के प्रति सन्देह लिए बैठे हैं। ऐसी अवस्था में मिलने-जुलने की बात भी नहीं उठती। जब तक यह सन्देहशीलता नहीं मिटती तब तक वाचना की पृष्ठभूमि तैयार नहीं हो पाती। पृष्ठभूमि के अभाव में कार्य बनता नहीं। अतः आवश्यकता यह है कि इस वृत्ति को मिटाया जाए और एक-दूसरे को तटस्थता से देखने का प्रयत्न किया जाए।

साध्य एक है, पर साधन अनेक। एक साध्य की बात तो जंच जाती है, परन्तु एक साधन की बात नहीं जंच सकती। गन्तव्य एक हो सकता है, परन्तु उस तक पहुंचने के साधन भिन्न-भिन्न अवश्य रहेंगे। कोई किसी मार्ग को और कोई किसी मार्ग को जाना चाहेगा। यह विभिन्न रुचि की बात ही सहनशीलता को सिद्ध करती है। एक ही साधन को सब अपनाकर चलें, यह कभी संभव नहीं हो सकता।

सभी सम्प्रदायों का साध्य एक है—मुक्ति। उनकी प्राप्ति के साधन भिन्न

हैं। कोई साकारोपासना में अपने साध्य को देखता है तो कोई निराकार की उपासना में। कोई तीर्थ-यात्रा से साध्य-सिद्धि मानता है तो कोई घर पर रहकर ही आध्यात्मिकता में लीन रहकर साध्य के दर्शन करता है। कोई वस्त्र-परिधान से मुक्ति की ओर चल पड़ता है तो कोई नग्नत्व स्वीकार करता है। सभी ठीक हो सकते हैं, जहां तक कि ये साधन अध्यात्म से ओत-प्रोत हों। जहां भी या जब भी इनमें विकार आ घुसता है तब विकृति आती है और सारा ढांचा बिगड़ जाता है।

अनेक साधनों वाली बात की पुष्टि करते हुए आचार्य विनोबा ने कहा था—'**यह सोचना गलत होगा कि किसी एक ही धर्म से विश्व में शान्ति स्थापित हो जायेगी। धर्म सभी अच्छे हैं और इसलिए जो जिसका धर्म हो वह उसी पर चले। जरूरत है धार्मिक सहिष्णुता व भ्रातृत्व की।**'

साधन अनेक होते हुए भी मनोमालिन्य न हो यह अपेक्षा है। इससे प्रेम बढ़ता है और आपसी प्रेम से विचारों का आदान-प्रदान सुगम हो जाता है। इतना हो जाने पर अपनी अपनी मान्यताओं की सुरक्षा करते हुए भी एक निर्णय पर पहुंचा जा सकता है।

'सामूहिक वाचना' का यह तात्पर्य नहीं कि सभी की मान्यताओं को एक करने का प्रयास किया जाए। परन्तु इसका सही तात्पर्य यह है कि कम-से-कम मूल आगम के पाठों में सभी एकमत हो जाएं ताकि आगमिक तत्त्वों की अक्षरशः सुरक्षा की जा सके और उसकी एकरूपता को लोगों के सामने रखा जा सके। पाठों की विभिन्नता स्वयं पाठक को संशय में डाल देती है। तत्त्व का निरूपण जहां संशय के उच्छेद के लिए होता है वहां वह अकारण ही संशय पैदा करे यह कैसा न्याय!

जिस प्रकार 'वल्लभी वाचना' और 'माथुरी वाचना' का संकलन आचार्य देवर्द्धिगणी ने पक्षपात-रहित दृष्टि से किया था—वही हमारा आधार-स्थल बन सकता है। मूलागमों में जहां भी पाठान्तर हैं उनका उल्लेख समुचित ढंग से हो इसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु यदि कोई अपनी परम्परागत मान्यताओं के आधार पर या अभिनिवेश से अपनी ही बात रखना चाहे तो वह क्षम्य नहीं हो सकता। जहां तक हमारा ध्यान है कि अंग, उपांग आदि में पाठ को लेकर विशेष मतभेद नहीं है। मतभद तो केवल अर्थ करने की परम्परा में

है। ऐसी अवस्था में पाठों का निर्णय कोई बड़ी बात नहीं है। पाठों के ऐक्य से यह भी नहीं समझना चाहिए कि अर्थ करने की स्वतंत्रता भी नहीं रहेगी। सभी सम्प्रदाय सारे सूत्रों के अर्थ करने में एकमत हो जाएं, यह असंभव है। इस असंभावित कार्य को उठाना तो स्वयं एक नई समस्या खड़ी करने जैसा होगा। पाठों में मतभेद पहले नहीं था, ऐसी बात नहीं है। चूर्णि, टीका आदि व्याख्यात्मक ग्रंथ इसके साक्षी हैं। उन सबका संकलन कर देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण एक निर्णय पर पहुंचे—यह उनकी विशेषता का द्योतक है। तत्पश्चात् धीरे-धीरे विभिन्न कारणों से पाठों में अन्तर आया और आज वह अन्तर बहुत दूर तक पहुंच चुका है। यदि आज भी इस ओर प्रयास नहीं किया जायेगा तो धीरे-धीरे निर्युक्ति आदि आगमेतर ग्रंथ भी उसमें समाविष्ट होकर मूलागम के शरीर को विकृत कर देंगे। ऐसा हो जाने पर जैन शासन की अवहेलना होगी और इसके हम ही उत्तरदायी ठहराये जायेंगे!

अतः आवश्यकता है कि सभी सम्प्रदायों के आचार्य इस ओर विशेष ध्यान दें और निरपेक्ष दृष्टि से शासन-प्रभावना के लिए इस क्षेत्र में कुछ कार्य करने की सोचें। सर्वप्रथम ग्यारह अंग, बारह उपांग, मूल और छेद आदि-आदि आगम-ग्रन्थों के पाठों का संशोधन और स्थिरीकरण कर लेने पर परस्पर सौहार्द का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा और आगे भी सोचने-समझने का द्वार खुला रह सकेगा।

यह 'सामूहिक वाचना' कब, कैसे और कहां हो—यह स्वयं अधिकारीगण सोचें और शीघ्र ही किसी एक निर्णय पर पहुंचकर कार्य को गतिमान करें। साधनों की इस प्रचुरता के युग में यदि यह नहीं हो पायेगा तो अगली पीढ़ी हमारी बुद्धि पर हंसेगी और खिल्लियां उड़ायेगी।

अभी-अभी एक भाई ने उस आह्वान का स्वागत करते हुए लिखा था कि यह सामयिक आवश्यकता अवश्य है—परन्तु आचार्य तुलसी के आह्वान पर भी लोग विश्वास नहीं करेंगे, क्योंकि स्वयं आचार्य भी एक सम्प्रदाय के घेरे में हैं। उनका कहना कुछ हद तक ठीक है, परन्तु सिर्फ बद्धमूल मान्यताओं के आधार पर जीवनभर अविश्वास रखते ही जाना स्वयं अपने दुरभिनिवेश का प्रदर्शनमात्र है। प्रत्यक्षीकरण और वर्तमान में उनके अनुशासन में चल रहे आगम-कार्य के अवलोकन से मेरा विश्वास है कि अविश्वास की दीवारें ढह पड़ेंगी।

आचार्यप्रवर ने कितनी बार कहा था कि '**आगम-कार्य जिनशासन का कार्य है। इसमें पूर्ण प्रामाणिकता और सचाई रहनी चाहिए। पूर्वाभिनिवेश, सम्प्रदाय का मोह या परम्परा का आग्रह कभी भी न आए।**' ये शब्द आज भी आगम-क्षेत्र में काम करने वालों का पथ-प्रशस्त करते हैं। 'Works speak louder them voice'—स्वयं कार्य ही इसका प्रमाण हो सकेगा—कथन मात्र से नहीं। दशवैकालिक का कार्य जब जनता के समक्ष आ जायेगा तब कई भ्रांतियां स्वयं नष्ट हो जायेंगी। 'वाचना' की विस्तृत रूपरेखा हम अपनी ओर से शीघ्र ही तैयार करने वाले हैं। अन्य जैन अधिकारी विद्वान् भी यदि इस विषय में कुछ कर सकेंगे तो सोचने-समझने का अवसर मिलेगा।

१७. आगम-कार्य : विद्वानों से परामर्श

यह 'प्रवचन-काल' की बात है। ग्रन्थ-प्रणयन से पूर्व अध्ययन-अध्यापन का कार्य मौखिक होता था। गुरु अपने शिष्यों को मौखिक प्रवचन करते और शिष्य उन्हें सुनकर अपनी स्मृति में अंकित कर लेते। स्मृति की विशेषता थी कि जो जितना स्मृति में रख सकता वह उतना ही विद्वान् व ज्ञानी समझा जाता।

भगवान् महावीर ने जो कुछ कहा, गणधरों ने उसे ग्रहण किया और अपने उत्तरवर्ती शिष्यों को उसकी वाचना दी। यह गुरु-परम्परा अक्षुण्ण रूप से चलती रही। आप्त-वचन होने के कारण जैन-वाङ्मय 'आगम' कहलाया। केवली, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी चतुर्दशपूर्वधर और दशपूर्वधर की रचना को आगम कहा गया है। इनके द्वारा रचित आगम स्वतः प्रमाण हैं। साथ-साथ नव-पूर्वधर की रचना को भी आगम कहा गया—इसकी संगति यों है कि उपर्युक्त पांच आगम रचने के अधिकारी हैं और नव-पूर्वधर आगम की रचना के अधिकारी नहीं, परन्तु प्रायश्चित्त आदि के उत्सर्ग-अपवाद नियमों की रचना में स्वतंत्र हैं। आगम का दूसरा नाम 'श्रुत' भी है। यह शब्द स्वयं 'प्रवचन-काल' की ओर स्पष्ट संकेत है। चार दुर्लभ वस्तुओं में दूसरी वस्तु 'श्रुति' है। यह भी उसी की परिचायिका है।

कालचक्र घूमा। भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ। स्मृति कम होने लगी। जैनाचार्यों ने महावीर-वाणी को संकलित करना चाहा। इसलिए तीन संगीतियां हुईं।

सर्वप्रथम पाटलिपुत्र में वीर-निर्वाण के १६० वर्ष बाद एक परिषद् बुलाई गई। उस समय भद्रबाहु ही दृष्टिवाद के ज्ञाता रह गये थे। दुर्भिक्ष के कारण संघ छिन्न-छिन्न हो गया था। एकत्रित न हो सका। अतः वह असफल रहा।

दूसरी बार वीर-निर्वाण के ८२७ और ८४० के बीच आचार्य स्कंदिल की अध्यक्षता में सारा संघ एकत्रित हुआ। जितना स्मृति में था उसको लिपिबद्ध किया गया। साथ-साथ वलभी में आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में भी यह कार्य हुआ।

तीसरी बार वीर-निर्वाण के ९८० वर्ष बाद आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में एक बैठक हुई। उन्होंने उपर्युक्त दोनों वाचनाओं में संकलित पूर्वों का समन्वय कर पुस्तकारूढ़ किया।

तत्पश्चात् कोई भी सामूहिक वाचना नहीं हुई। लिपि-भेद या अन्यान्य कारणों से मूलागमों में निर्युक्ति, भाष्य आदि का मिश्रण हुआ। व्याख्याओं में अन्तर पड़ा, दूसरे दर्शनों के भावों का समावेश हुआ। अन्यान्य दर्शनों से लोहा लेने के लिए नाना प्रकार की रचनाएं बनीं, व्याख्याएं हुईं। उनका असर आगम की आत्मा पर पड़ा। परम्परा में भेद आया। इतना होते हुए भी जैनाचार्यों ने उसकी सुरक्षा के लिए भरसक प्रयत्न किया। उपनिषदों की तरह आगमों में क्षेपक की बहुलता को रोका। फिर भी यत्र-तत्र कुछ त्रुटियां आयीं, परन्तु गत एक हजार वर्ष में किसी भी आचार्य ने आगम पाठों के स्थिरीकरण के लिए सामूहिक प्रयास किया ही नहीं।

कुछ वर्ष पूर्व आचार्यश्री तुलसी ने यह काम अपने हाथ में लिया और निरन्तर उसकी प्रगति में चिन्तनशील बने। उनके पास उचित सामग्री है। कार्य दिनोंदिन प्रगति पर है। सुसम्पन्न आचार्य द्वारा 'आगम-अन्वेषण कार्य' का आरम्भ सुनकर जैन विद्वानों को हर्ष हुआ और वे कार्य की गतिविधि को जानने के लिए प्रयत्नशील हुए।

कुछ दिन पूर्व वैशाली विश्वविद्यालय के असिस्टेण्ट डायरेक्टर डॉ. नथमलजी टांटिया और दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रोफेसर श्री इन्द्रचन्द्र शास्त्री, वेदान्ताचार्य आगम-कार्य को देखने के लिए कानपुर आये। त्रिदिवसीय प्रवास में उनसे अनेक विषयों पर बातचीत हुई। दोनों जैन-दर्शन के मंजे हुए विद्वान् हैं और जैन परम्पराओं व दार्शनिक तत्त्वों का अच्छा ज्ञान रखते हैं। आचार्यश्री ने

आगम-कार्य की गतिविधि से उन्हें अवगत कराया और सम्पन्न-प्राय दशवैकालिक सूत्र का कार्य उनके सामने रखा। उन्हें यह जानकार अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि आगमिक शब्दों का अर्थ अन्यान्य दूसरे 'आगमों' के आधार पर ही हो ऐसा प्रयास किया जाता है और उसमें काफी सफलता भी मिली है। इससे एक तो शब्द की आत्मा सही रूप से पकड़ी जाती है और दूसरे अन्य आगमों का पारायण भी सहजतया हो जाता है। डॉ. नथमलजी ने कहा—'मैं अपने विद्यालय में भी इसी माध्यम से विद्यार्थियों को पढ़ाता हूं और इससे अर्थ करने में सुगमता होती है। उन्हें एक-एक शब्द, जिसकी अथ से इति तक छानबीन होती है, की जानकारी दी गई। उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। अपने अल्पकालीन प्रवास में उन्होंने कई बार कहा—'आचार्यजी! हम यह नहीं जानते थे कि यह आगम-कार्य इतनी दृढ़ता और निष्ठा से हो रहा है। हमने यह मान लिया था कि जिस प्रकार अन्यान्य स्थानों में कार्य होता है उसी प्रकार यहां भी होता होगा। मेरी ही नहीं, परन्तु मेरे साथियों की भी यही धारणा थी, परन्तु कार्य के साक्षात्कार से हमें यह मानना पड़ता है कि कार्य पूर्ण परिश्रम व प्रामाणिकता से हो रहा है। यदि मुझे यह पहले मालूम पड़ता तो मैं कभी का आपके पास आ जाता और इस कार्य में हाथ बंटाता। आपका यह कार्य जब लोगों के समक्ष आएगा तक निःसन्देह मैं कह सकता हूं कि उनकी कई बद्धमूल धारणाएं नष्ट हो जाएंगी। आज तक कहीं इस प्रकार का परिश्रम हुआ हो, मैं नहीं जानता। आप इस दशवैकालिक को शीघ्र पूरा कर दें, जिससे आगामी वर्ष हम अपने विद्यापीठ में इसको पाठ्यक्रम में रख सकें। इस एक सूत्र का सांगोपांग कार्य विद्यार्थी-अन्वेषकों को एक नई दिशा देगा और अन्य आगमों के लिए आधारस्थल बनेगा।' इसी प्रकार और भी बहुत-सी चर्चाएं हुईं। मुनिश्री नथमलजी ने उन्हें कई शब्दों की टिप्पणी सुनाई। जैसे-जैसे कार्य की जानकारी बढ़ती वैसें-वैसे वे आनन्दविभोर हो उठते। उन्होंने कई बहुमूल्य सुझाव भी दिये और कहा कि इस कार्य को सभी दृष्टियों से पूर्ण करने के लिए आपको बौद्ध-साहित्य का भी सांगोपांग पारायण करना चाहिए, अन्यथा यह कमी विद्वानों को अखरे बिना नहीं रहेगी।

मुनिश्री नथमलजी के द्वारा यह कहे जाने पर कि प्रत्येक साहित्य की उपलब्धि हमारे लिए सहज नहीं होती तब डॉ. नथमलजी ने कहा—'आप वैशाली पधारिये। वहां बौद्ध व जैन-साहित्य का अच्छा संकलन है। वहां आने

से आपका अपना कार्य तो सुलभ होगा ही, साथ-साथ हमें भी बहुत कुछ सीखने को मिलेगा।' उन्हें मुनिश्री द्वारा रचित जैन-दृष्टि की हस्तलिखित प्रति दिखाई। स्याद्वाद, नय-निक्षेप के प्रकरण उन्हें बहुत रुचे। उन्होंने कहा— 'जैन दर्शन पर अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं, परन्तु संतोषप्रद एक भी नहीं है। शायद आपकी यह पुस्तक उस कमी को दूर कर सके।' समयाभाव के कारण वे उसे पूरी नहीं पढ़ सके। किन्तु दूसरी बार यहां आने पर जैन-दृष्टि को आद्यन्त पढ़ जाने की जिज्ञासा व्यक्त की और उसके सम्पादन का भार भी लेना चाहा।

डॉ. नथमलजी श्रद्धालु व्यक्ति हैं। बोलते कम हैं परन्तु कार्यक्षमता अपूर्व है।

डॉ. इन्द्रचन्द्र शास्त्री आचार्यश्री के सम्पर्क में कई बार आ चुके थे। वे भी मंजे हुए विद्वान् हैं और उन्होंने स्थानकवासी आचार्य जवाहरलालजी के साहित्य का सम्पादन किया है। उन्हें आगम-कार्य दिखाया गया। प्रारम्भ में उनमें कुछ अरुचि-सी देखी। इसका कारण संभवतः उनकी प्राचीन बद्धमूल धारणाएं और परम्परागत विचार थे। परन्तु ज्यों-ज्यों उनकी जानकारी बढ़ी, उन्हें यह विश्वास हुआ कि यदि जैन समाज में कुछ प्रामाणिकता व निष्ठापूर्वक कार्य करने की क्षमता है तो वह केवल आचार्य तुलसी और उनके शिष्य-समुदाय में है। मुनियों के श्रम, आचार्यवर की सूक्ष्म मेधा और कुशल अनुशासन तथा मुनिश्री नथमलजी की सर्वांगपूर्ण विद्वत्ता से वे आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सके। उनकी जिज्ञासा आगे बढ़ी। उन्होंने भी इस कार्य में हाथ बंटाने के लिए अपने आपको प्रस्तुत किया।

कुछ ही दिनों बाद जैन-दर्शन के विद्वान् श्री दलसुख मालवणिया भी कानपुर आए। वे डॉ. हीरालाल और श्री ए. एन. उपाध्ये के साथ यहां आना चाहते थे। परन्तु कार्यवश वे दोनों विद्वान् यहां नहीं आ सके। डॉ. नथमलजी टांटिया ने अपने अल्पकालीन कानपुर-प्रवास के संस्मरण पत्रों द्वारा उन्हें अवगत कराए थे। उसकी प्रेरणा से और स्वयंभूत जिज्ञासा से दलसुखभाई अपने दूसरे कार्यों को गौण कर आचार्यप्रवर के पास आए।

प्रातःकाल का समय था। बादल उमड़-घुमड़कर आ रहे थे। बूंदाबांदी हो रही थी। वन्दनकर वे आचार्यप्रवर के पास बैठ गए। औपचारिक वार्तालाप

के पश्चात् उन्होंने आगम-कार्य देखने की जिज्ञासा व्यक्त की। आचार्यप्रवर प्रवचन देने पधार गए। मुनिश्री नथमलजी ने उन्हें आगम-कार्य की जानकारी दी। बीच-बीच में मुनिश्री अपनी जिज्ञासाएं भी रखते। दलसुखभाई अपने ढंग से उनका समाधान करते। दलसुखभाई ने भी आगम संबंधी अनेक जिज्ञासाएं व्यक्त कीं और कहा—'मैंने पुण्यविजयजी से भी इन जिज्ञासाओं का समाधान चाहा। उन्होंने सुन्दर समाधान दिया पर मेरी जिज्ञासा बनी ही रही। आप अपनी ओर से इनका क्या समाधान देते हैं?' मुनिश्री नथमलजी ने प्रधानतः श्रीमज्जयाचार्य को सामने रखकर उन्हीं के ग्रंथों के आधार पर उन्हें समाधान दिया। 'भगवतीजोड़' जो कि श्रीमज्जयाचार्य की अद्वितीय कृति है, के कई स्थल उन्हें सुनाए और कहा—'हमने आगमिक टीकाओं का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। परन्तु श्रीमज्जयाचार्य जैसा प्रशस्त टीकाकार हमने दूसरा नहीं देखा। श्रीमज्जयाचार्य में तत्त्व की गहराई में जाने की जो सूक्ष्म मेधा थी वह अन्य टीकाकारों में नहीं पायी जाती—यह हम दावे के साथ कह सकते हैं। आगम संबंधी उनके निर्णय आज भी जैन-जगत् के प्रकाश-स्तम्भ माने जाने योग्य हैं। परन्तु यह हमारी त्रुटि ही समझिये कि हमने उनका वास्तविक रूप लोगों के सामने रखने का इतना प्रयास नहीं किया जितना करना चाहिए था।' दलसुखभाई ने श्रीमज्जयाचार्य के ग्रंथ देखे, पढ़े और कुछ चिन्तन के बाद कहा—'पता चलता है कि आपके सम्प्रदाय में आगमों की पुष्ट परम्परा रही है। श्रीमज्जयाचार्य ने आगम-विषयक जो कार्य किया है, वह सभी जैन सम्प्रदाय को मान्य हो सकता है। आवश्यकता है उनकी कृतियों को प्रकाश में लाया जाए।'

आगे उन्होंने कहा—'आजकल स्थिति ऐसी बन रही है कि कई जैन श्रमण परिश्रम तो करना नहीं चाहते, परन्तु अपना नाम उस कृति में अंकित देखना चाहते हैं, चाहे वह किसी के द्वारा सम्पन्न हुई हो। यह मनोभावना खटकती है। परन्तु आपका कार्य देखकर तो मुझे परम हर्ष होता है। यदि इसी निष्ठा से आपने सम्पूर्ण आगम-साहित्य का पारायण किया तो वह दिन भी दूर नहीं जब कि जैन-जगत् ही नहीं, सारा संसार जैन-वाङ्मय को पूर्णरुचि से पढ़ेगा और अन्य जैनेतर विद्वान् भी इस दिशा में कार्य करने के लिए प्रोत्साहित होंगे। आज भी जैनेतर विद्वान् चाहते हैं कि प्राकृत वाङ्मय सामने आए और उसके आधार पर प्राचीन भारत की गौरवास्पद स्थिति का दिग्दर्शन हो। यदि हम जैन लोग

उनकी रुचि व उत्साह के प्रदीप को प्रज्वलित रखने में सफल हो सकें तो बहुत कुछ संभावनाएं हैं। यदि हम अपनी अकर्मण्यता से उनके सामने कोई उपयुक्त सामग्री उपस्थित नहीं कर सकेंगे तो उनका उत्साह टूट जाएगा, इसकी सारी जिम्मेवारी हमारे पर है। आपका यह कार्य उनके लिए बहुत लाभप्रद होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

१८. आगम-संपादन कार्य : विद्वानों की दृष्टि में

यह उस समय की बात है, जब 'जैन विश्व भारती' का जन्म नहीं हुआ था। सन् ५४-५५ में मुम्बई का चतुर्मास सम्पन्न कर आचार्यश्री तुलसी अपने चतुर्विध संघ के साथ महाराष्ट्र की यात्रा कर रहे थे। 'मंचर' गांव में 'धर्मदूत' पत्रिका पढ़ते-पढ़ते आचार्यश्री के मन में आगम-संपादन की चेतना जागी और तब समूचा धर्मसंघ दृढ़ संकल्प के साथ उसी दिशा में गतिशील हो गया। उस समय तक संपादन का अनुभव नहीं था, परन्तु संकल्प-बल ने आत्म-विश्वास जगाया और आचार्यश्री के मार्गदर्शन तथा आचार्य महाप्रज्ञ (उस समय के मुनि नथमलजी) के निर्देशन में अनेक साधु-साध्वी इस महान् कार्य में जुट गए।

प्रथम दो-तीन वर्षों तक संपादन का यात्रापथ धुंधला बना रहा, पर पैर रुके नहीं। अनुभव के आलोक में धीरे-धीरे कार्य-दिशाएं स्पष्ट होती गईं और एक सुस्थिर गति से कार्य आगे बढ़ने लगा।

आगम-साहित्य के अध्येता दोनों प्रकार के लोग हैं—विद्वद्जन और साधारणजन। दोनों को दृष्टिगत रखते हुए हमने पहले आगम-संपादन कार्य को छह भागों में विभक्त किया—

१. **आगमसुत्त ग्रंथमाला**—आगमों के मूलपाठ, पाठान्तर, शब्दानुक्रम आदि।

२. **आगम ग्रंथमाला**—आगमों के मूलपाठ, संस्कृतछाया, अनुवाद आदि।

३. **आगम-अनुसंधान ग्रंथमाला**—आगमों के तुलनात्मक टिप्पण।

४. **आगम-अनुशीलन ग्रंथमाला**—आगमों के समीक्षात्मक अध्ययन।

५. **आगम-कथा ग्रंथमाला**—आगमों की कथाओं का संकलन और अनुवाद।

६. **वर्गीकृत आगम ग्रंथमाला**–आगमों के वर्गीकृत और संक्षिप्त संस्करण।

इस आधार पर कार्य प्रारंभ हुआ। हमारे सामने सबसे बड़ी समस्या थी पाठ-निर्धारण की। जितने हस्तलिखित आदर्श होते, उतने ही पाठान्तर सामने आ जाते। यह भी ध्यान में आया कि अर्थ-निश्चय और पौर्वापर्य की निश्चिति के बिना पाठ-निर्धारण का कार्य सुगम नहीं हो सकता। हमने पाठ-निर्धारण की इयत्ता यह मानी कि प्राचीनतम आदर्शों से पाठ का मिलान किया जाए और आगमों के पौर्वापर्य की संगति करते हुये किसी एक निश्चय पर पहुंचा जाए और फिर विशेष विमर्श और चिन्तन के द्वारा पाठ का निर्धारण किया जाए।

उन्हीं वर्षों में आचार्यप्रवर ने लम्बी यात्राएं करने का निर्णय लिया। यात्राएं चलतीं, आगम-कार्य भी साथ-साथ चलता। कभी कोई विघ्न आया हो, ऐसा अनुभव नहीं हुआ। आचार्यप्रवर की सतत प्रेरणा, मुनि नथमलजी का सतत योग–इन दोनों की संयुति ने कार्य को गति दी और धीरे-धीरे अनेक आगम रूपायित होते गए।

जर्मन के विद्वान् डॉ. रोथ (उस समय नालंदा विश्वविद्यालय के डायरेक्टर) ने एक वर्ष में यहां किये गये आगम-संपादन कार्य का अवलोकन किया और आश्चर्य व्यक्त करते हुए तेरापंथ के श्रमण-श्रमणी परिवार की कर्त्तव्य-निष्ठा का महत्त्वपूर्ण अंकन किया।

ईसवी सन् ५८-५९ की बात है। आचार्यप्रवर कलकत्ता की यात्रा कर रहे थे। राजगृह में कुछ दिन ठहरे। वैभारगिरि की अधित्यका में बैठकर आचार्यश्री ने अपने आगम-पाठ संपादन का संकल्प दोहराया। उस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुये जैन धर्म-दर्शन के बहुश्रुत विद्वान् श्रीदलसुख मालवणिया ने '**श्रमण**' (मासिक पत्र) में '**आगम प्रकाशन और आचार्य तुलसी**' शीर्षक के अंतर्गत लिखा–'हम आचार्यश्री के इस सत्संकल्प की बार-बार प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते। हमें उनके इस सत्संकल्प की पूर्ति के विषय में तथा उनके इस दिशा में किए जाने वाले प्रयत्नों के

विषय में भी संदेह नहीं, क्योंकि वे ऐसे हैं, जो काम उठाते हैं उसे निष्ठा के साथ पूरा करने में लग जाते हैं। उनकी यही विशेषता हमें कई बार प्रत्यक्ष हुई है।.........हम चाहते हैं आचार्यजी को अपने इस सत्प्रयत्न में पूरी सफलता मिले।'

आगम-संपादन के कार्य के विषय में विद्वानों की मिश्रित प्रतिक्रियाएं सामने आती रहीं। कुछ विद्वानों को तेरापंथ धर्मसंघ के कर्तृत्व का पूरा विश्वास था और कुछ विद्वान् सशंकित थे। सबसे पहले 'दसवेआलियं' (दशवैकालिक) सूत्र का कार्य सम्पन्न हुआ। उसमें सूत्र का सांगोपांग विवेचन किया गया था। आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली से संपादित और विवेचित उस सूत्र को देखकर विद्वानों की धारणाएं बदलीं और उन्होंने एक स्वर से उस कार्य की प्रशंसा की। शताधिक ग्रंथों के पारायण से लिखे गये उनके तुलनात्मक टिप्पणों को विद्वानों ने बहुत मूल्यवान् बताया। उस आगम की प्राचीनतम अगस्त्यसिंह स्थविर कृत चूर्णि का हमने पहली बार उपयोग किया था। प्रज्ञाचक्षु पण्डित सुखलालजी ने उस आगम को देखा। उनकी धारणा बदली और उन्होंने कई बार आगम-संपादन की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

जैन विश्व भारती का प्रारंभ

सन् १९७० में तेरापंथी महासभा, कलकत्ता ने यह प्रस्ताव पारित किया कि लाडनूं में जैन विश्व भारती संस्थान का निर्माण हो। विचार-विमर्श हुआ और संस्थान मूर्त्त हो गया। सन् १९७४ में भगवान् महावीर की पचीसवीं निर्वाण शताब्दी पर जैन विश्व भारती से सुंदर संपादित आगम प्रकाशित हुए। इंससे पूर्व सारे आगम-ग्रंथ तेरापंथी महासभा, कलकत्ता से प्रकाशित हो रहे थे। जैन विश्व भारती ने उस पुण्य अवसर पर अंगसुत्ताणि भाग-१,२,३ तथा ठाणं, दसवेआलियं (द्वितीय संस्करण), आयारो (लघु टिप्पणों के साथ) प्रकाशित किये। बीच में कुछ श्लथता भी आई। दक्षिण भारत की सुदीर्घ यात्रा भी इसमें कारणभूत बनी। उसके बाद केवल ग्यारह अंगों का शब्दकोश मात्र प्रकाश में आ सका। अब पुनः इस कार्य को गतिमान करने की बात सोची जा रही है। मुनिश्री नथमलजी (युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ) पहले से अधिक व्यस्त हुए हैं, अतः अब वे इसके लिए अधिक समय दे सकें, यह कम संभव लगने लगा है।

आगम-ग्रंथों के प्रकाशन में दोनों संस्थान—जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता तथा जैन विश्व भारती, लाडनूं ने बहुत विशाल कार्य किया है। इस कार्य में सबसे पहले बहुश्रुत विद्वान्, आगम-ग्रंथों के प्रबंध संपादक श्री श्रीचंदजी रामपुरिया का अविरल योग मिला। उनका शासन के प्रति समर्पणभाव, आगम-साहित्य के प्रति निष्ठा और अथक परिश्रम के कारण यह सब कुछ हो पाया है। प्रारंभ में हमारे संघ के तत्त्वज्ञानी और आगमवेत्ता स्वर्गीय श्रीमदनचंदजी गोठी का भी योग रहा है।

इस महायज्ञ की सम्पूर्ति में छोटे-बड़े पचासों साधु-साध्वियों ने अपना श्रम दिया है और आज भी कुछ साधु-साध्वी इसमें अहर्निश लगे हुये हैं।

हम कार्य की त्वरा में इतना विश्वास नहीं करते, जितना हमारा विश्वास है कार्य की गुरुता में। जो आगम-ग्रंथ यहां से प्रस्तुत हुये हैं, वे आज भी अपने क्षेत्र के शलाका-ग्रंथ हैं।

अन्यान्य क्षेत्रों में भी आगम-संपादन का कार्य हुआ है, हो रहा है। मैं उनके इस प्रयत्न का कम मूल्यांकन नहीं करता, किन्तु यह स्पष्ट कहना चाहता हूं कि ग्रंथों की केवल संख्यावृद्धि से कार्य की गुरुता नहीं नापी जा सकती। गुरुता का अंकन होता है—वैज्ञानिक दृष्टि से ग्रंथ के प्रस्तुतीकरण में। आज का युगमानस यही चाहता है कि वस्तु अल्प हो, पर वह हो युगबोध के अनुरूप।

आगम-संपादन की शृंखला में यहां बत्तीस आगमों का मूलपाठ संपादित हो चुका है। ग्यारह अंगों का तथा अन्यान्य कुछ स्फुट आगमों का मूलपाठ प्रकाश में आ चुका है। शेष आगम प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं। जैन विश्व भारती ने इस गुरुतर दायित्व को ओढा है। यहां एक सुविधा यह है कि संस्थान की अपनी एक निजी प्रेस है, जो सभी सुविधाओं से सुसज्जित है। उसका भी विकास किया जा रहा है। अब यह संस्थान आगमों को प्रस्तुत करने में सक्षम है।

अब मैं श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा तथा जैन विश्व भारती से प्रकाशित आगम साहित्य का दिग्दर्शन कराना चाहता हूं। उसका सामान्य विवरण इस प्रकार है—

१. अंगसुत्ताणि भाग-१ (आयारो, सूयगडो, ठाणं, समवाओ)।

२. अंगसुत्ताणि भाग-२ (भगवई)।

३. अंगसुत्ताणि भाग-३ (शष छह अंग)।

तीनों ग्रंथ संशोधित मूलपाठ, पाठान्तर, पाठान्तर-विमर्श, 'जाव' पूर्ति और उसके आधार-स्थल, विषयसूची, संपादकीय तथा भूमिका से युक्त हैं।

४. दसवेआलियं **५. ठाणं**

६. उत्तरज्झयणाणि भाग-१,२ **७. समवाओ**

८. सूयगडो भाग-१,२

ये सात ग्रंथ संशोधित मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, तुलनात्मक टिप्पण, भूमिका तथा परिशिष्टों से युक्त हैं।

९. आयारो–संशोधित मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद तथा लघु टिप्पणों से युक्त।

१०. दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि

११. आयारो तह आयारचूला **१२. निसीहज्झयणं**

१३. समवाओ **१४. ओवाइयं**

ये पांचों आगम संशोधित मूलपाठ, पाठान्तर, पाठान्तर-विमर्श, शब्द-सूची, वर्गानुक्रम आदि-आदि से युक्त हैं।

१५. दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन।

१६. उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन।

१७. दशवैकालिक उत्तराध्ययन–केवल हिन्दी अनुवाद।

१८. धर्म प्रज्ञप्ति भाग-१ (वर्गीकृत आगम)।

१९. धर्म प्रज्ञप्ति भाग-२ (वर्गीकृत आगम)।

२०. आगम शब्दकोश–ग्यारह अंगों की शब्द-सूची, प्रमाण-स्थल तथा छाया से युक्त।

इन प्रकाशित आगमों के अतिरिक्त जो आगम कार्य सम्पन्न हो चुका है, उसका विवरण इस प्रकार है–

१. सभी उपांगों, छेदसूत्रों के मूल सूत्रों के मूलपाठ का निर्धारण, पाठान्तर तथा पाठान्तर के टिप्पण तथा शब्दानुक्रम।

२. **ज्ञाताधर्मकथा**—हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पण।

३. **उपासकदशा**—हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पण।

४. **अन्तकृतदशा**—हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पण।

५. **निरयावलिका**—हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पण।

६. **अनुयोगद्वार**—हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पण।

आगम-संपादन के विविध आयाम हैं। दो-तीन वर्ष पूर्व आगम-शब्दकोश के निर्माण का चिन्तन चला। कुछ साध्वियां, समणियां और मुमुक्षु बहिनों को इस कार्य में व्यापृत किया। 'आगम शब्दकोश' की कार्य-प्रणाली में कुछ महत्त्वपूर्ण निष्पत्तियां और हो गईं।

हमने आगम शब्दकोश की निर्मिति के लिए सौ से अधिक ग्रंथों का चुनाव किया था, उनमें अनेक व्याख्या ग्रंथ भी सम्मिलित थे। उनके पारायण से 'एकार्थक शब्दकोश', 'निरुक्तकोश' और 'देशीशब्दकोश' भी अनायास संगृहीत कर लिए गए। एकार्थक शब्दकोश और निरुक्तकोश छप चुका है। देशी शब्दकोश का कार्य चालू है। एकार्थक कोश में लगभग पन्द्रह सौ शब्दों के बीस हजार पर्याय शब्द संगृहीत हैं। निरुक्तकोश में लगभग दो हजार शब्दों के निरुक्त दिये गये हैं। देशी शब्दकोश में अनुमानतः सात हजार देशी शब्दों का समावेश होगा। इन तीनों कोशों के संचयन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये सारे कोश साध्वियों तथा समणियों द्वारा संगृहीत हैं।

इस शृंखला में भाष्य आदि व्याख्या-ग्रंथों के पैंतीस हजार पद्यों का संग्रहण किया जा चुका है।

ग्यारह अंगों के शब्दकोश की आवश्यकता महसूस हुई। विभिन्न मुनियों ने ग्यारह अंगों की शब्द सूचियां तैयार कीं और शब्दकोश की संयुति हो गई। साम्प्रतम् उपांग शब्दकोश के प्रणयन की तैयारी हो रही है।

आगम-संपादन की मूल गंगोत्री से प्रवहमान ये छोटी-छोटी धाराएं अपने आपमें महत्त्वपूर्ण हैं और इस कार्य ने तेरापंथ धर्म संघ की बहुश्रुतता को वृद्धिंगत करने में योगदान दिया है।

हमारे इस कार्य के प्रकाश-स्तंभ हैं—आचार्य तुलसी और उससे विकीर्ण आलोक रश्मियों को संजोकर गति करने वाले हैं—युवाचार्य महाप्रज्ञ। दोनों के योग ने मार्ग को आलोकित किया है और यही एकमात्र कारण है कि अनेक साधु-साध्वियां निर्भय और निःशंक होकर आगम-पथ पर आगे बढ़ रहे हैं।

आगम-संपादन के मूल्यांकन की इस पवित्र वेला में हम श्रावक श्रीचंदजी रामपुरिया के योगदान को नहीं भुला सकते। कार्य के प्रारंभ से लेकर आज तक वे पूर्णनिष्ठा और समर्पणभाव से इसके साथ जुड़े रहे हैं और सदा नये-नये उन्मेष प्रस्तुत करते रहते हैं।

जैन विश्व भारती का सुरम्य और विजन स्थल, मुद्रणालय की सुविधा तथा समृद्ध ग्रंथागार से प्राप्य सामग्री की सुलभता—इस त्रिवेणी के कारण आगम-कार्य को गति देने में अधिक आयास नहीं करना पड़ता। अपेक्षा मात्र इतनी-सी है कि कार्य का सम्यक् नियोजन और संयोजन हो। इतना होने पर निष्पत्ति अपने आप प्रत्यक्ष होगी।

आगम-ग्रंथों पर प्राप्त विद्वानों की सम्मतियां

• डॉ. हीरालाल जैन ने दशवैकालिक सूत्र का पारायण कर लिखा—'दशवैकालिक का प्रस्तुत संस्करण अपने ढंग का अपूर्व है। मैं नहीं समझता कि अभी तक इतने परिश्रमपूर्वक एक-एक शब्द के अर्थ पर गंभीरता और व्यापकता से ध्यान देकर उसकी समस्त साहित्यिक परम्पराओं को निष्पक्षभाव से अंकित करते हुये किसी भी अन्य आगम-ग्रंथ का सम्पादन किया गया हो।

• डॉ. राजाराम जैन, रीडर एवं अध्यक्ष संस्कृत एवं प्राकृत विभाग, मगध विश्वविद्यालय ने २८वें अखिल भारतीय ओरियंटल कॉन्फ्रेन्स में, अध्यक्षीय भाषण करते हुए कहा—वैसे विभिन्न संस्थानों से आगम-साहित्य के अनेक, विविध संस्करण निकल चुके हैं, किन्तु आचार्य तुलसीगणी के निर्देशन में संपन्न यह कार्य सर्वांगीण एवं सर्वोपयोगी शोध कार्य सिद्ध होगा, ऐसा विश्वास है। विषय एवं भाषा से पूर्व ऐतिहासिक क्रम को ध्यान में रखते हुये, अस्पष्ट या संदिग्ध पाठों का चूर्णियों एवं वृत्तियों के आलोक में निर्धारित कर उनका पाठ-संशोधन सावधानी से प्रस्तुत किया गया है। इसमें आगममूर्ति मुनि

नथमलजी (सांप्रतम् युवाचार्य महाप्रज्ञ) एवं आगम साहित्य के लिए समर्पित व्यक्तित्व श्री श्रीचंदजी रामपुरिया एवं उस दल के अनेक साधु-साध्वियों को कितना श्रम करना पड़ा होगा, उसे भुक्तभोगी ही जान सकता है। उक्त साधकों के अथक परिश्रम से जैन विद्या को इन ग्रंथों के रूप में जो नवीन उपलब्धियां प्राप्त हुई हैं, उनके लिए साहित्य-जगत् उनका आभारी रहेगा।

• डॉ. नेमीचंद्र जैन, संपादक—तीर्थंकर (मासिक) ने लिखा—अंगसुत्ताणि जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य को देखकर मैं स्तब्ध रह गया। आपने तथा पूज्य मुनिवर्ग ने न केवल जैन समाज को अपितु सम्पूर्ण प्राच्य विद्या-जगत् को उपकृत किया है। यह ऐतिहासिक कार्य है। आप सबने जो यह कार्य इतनी उत्कृष्टता, कलात्मकता आकिंचन्यपूर्वक सम्पन्न किया है, इस साधना के सम्मुख मैं नतशिर हूं।

• जैन श्वेताम्बर स्थानकवासी संघ के प्रमुख कविवर उपाध्याय अमर मुनि ने आगम-ग्रंथों को देखकर कहा—वाचना प्रमुख आचार्यश्री तुलसीजी और सम्पादक-विवेचक महान् मनीषी मुनिश्री नथमलजी की ज्ञानक्षेत्र में यह भव्य देन शत-प्रतिशत अभिनन्दनीय है। यत्र-तत्र उनकी प्रतिभा, बहुश्रुतता, निष्पक्ष सत्यदृष्टि एवं मूलग्राही सूक्ष्म चिन्तनशैली सहृदय जिज्ञासु पाठक को प्रशंसा मुखर कर देती है।

• 'श्रमण' (मासिक) ने आगम ग्रंथों की समीक्षा करते हुये दिसम्बर ७५ में लिखा—⋯शास्त्रीयस्तर पर भाषा-वैज्ञानिक संशोधन का कार्य विस्तृत अरण्य को सुव्यवस्थित उद्यान का आकार देने जैसा कठिन है, किन्तु आचार्यश्री तुलसी तथा उनके शिष्य मुनि नथमलजी इस कार्य में वर्षों से निरकांक्ष भाव से लगे हुए हैं।⋯(अंगसुत्ताणि) का यह संस्करण वास्तव में निर्वाण-महोत्सव वर्ष की अनमोल एवं भक्तिपूर्ण उपलब्धि है।

सम्पूर्ण आगम-साहित्य का इसी प्रकार समर्थ संपादन, संशोधन युग के लिए अपेक्षित है।

१९. आगमों के व्याख्यात्मक ग्रन्थ

भारतीय संस्कृति जैनागम साहित्य की सतत-प्रवाही पयस्विनी में स्नात है। भारत की इस वसुन्धरा पर अनेक फूल खिले। अपने-अपने सौरभ से सभी

ने इसकी संस्कृति को सुरभित किया। मात्रा का तारतम्य इतिहासज्ञों से अज्ञात नहीं है। जैनेतर-धर्म-चिन्तकों के व्यावहारिक पक्ष की छाप जैन समाज पर पड़ी जो आज भी किसी न किसी रूप में अवस्थित है। इसी प्रकार जैन ऋषियों के आत्मपरक चिन्तन का प्रभाव अन्यान्य दर्शनों पर पड़ा।

जैन-धर्म-ग्रंथों की संज्ञा 'आगम' है। वे जन-भाषा प्राकृत में लिखे गये हैं। उन पर अनेक व्याख्यात्मक ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। मुख्यतः उनके चार विभाग हैं—

१. निर्युक्ति **३. चूर्णि**

२. भाष्य **४. टीका।**

उत्तरवर्त्ती काल में वार्तिक और टब्बे आदि व्याख्यात्मक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ।

निर्युक्ति (निज्जुत्ति)

सूत्र[१] और अर्थ में निश्चित संबंध बतलाने वाली व्याख्या को निर्युक्ति कहते हैं अथवा निश्चय[२] से अर्थ का प्रतिपादन करनेवाली युक्ति को निर्युक्ति कहते हैं। आगम के व्याख्यात्मक ग्रन्थों में यह सबसे प्राचीन है। ये प्राकृत भाषा की पद्यमय रचनाएं हैं। कहीं-कहीं निर्युक्ति को समझने के लिए भाष्य आदि की परम आवश्यकता होती है। क्योंकि व्याख्यात्मक ग्रन्थ होते हुए भी ये कहीं-कहीं बहुत ही संक्षेप में लिखी गई हैं। इनमें तत्कालीन विभिन्न दर्शनों के मतमतान्तर की परम्पराओं का इतिहास तथा अनेक ऐतिहासिक तथ्यों का संकलन हुआ है।

ओघनिर्युक्ति में साधु-जीवन की दिनचर्या का अथ से इति तक बहुत ही रोचक व हृदयस्पर्शी विवेचन मिलता है।

जर्मन[३] विद्वान् खारपेन्टियर ने निर्युक्ति की परिभाषा करते हुए लिखा है—'निर्युक्तियां, अपने प्रधान भाग से, केवल इंडेक्स का काम करती हैं। वे सभी विस्तृत घटनावलियों का संक्षेप में उल्लेख करती हैं।'

---

१. सूत्रार्थयोः परस्परं निर्योजनं सम्बन्धनं निर्युक्तिः।—आव. नि. गा. ८२।

२. निश्चयेन अर्थप्रतिपादिका युक्तिर्निर्युक्तिः—आचा. १।२।१।

३. उत्तराध्ययन की भूमिका, पृ. ५०-५१।

अनुयोगद्वार सूत्र में निर्युक्तियों के तीन भेद किये गए हैं—

१. निक्षेप-निर्युक्ति, २. उपोद्घात-निर्युक्ति ३. सूत्रस्पर्शिक-निर्युक्ति। ये भेद विषय की व्याख्या के आधार पर किये गये हैं।

डॉ. घाटगे[१] ने निर्युक्तियों के तीन विभाग किये हैं—

१. मूल निर्युक्तियां—जिनमें काल के व्यवधान से कोई भी मिश्रण न हुआ हो; जैसे आचारांग और सूत्रकृतांग की निर्युक्तियां।

२. जिनमें मूल भाष्यों का सम्मिश्रण हो गया है। फिर भी वे व्यवच्छेद्य हैं; जैसे—दशवैकालिक और आवश्यक सूत्र की निर्युक्तियां।

३. वे निर्युक्तियां जिनको आज 'भाष्य' या बृहद् भाष्य कहते हैं, जिनमें मूल और भाष्य में इतना सम्मिश्रण हो चुका है कि हम दोनों को अलग-अलग नहीं कर सकते; जैसे—निशीथ आदि पर निर्युक्तियां। उपर्युक्त विभाग निर्युक्ति के प्राप्त रूप के आधार पर किया गया है। इनके काल-निर्णय में सभी विद्वान् एकमत नहीं हैं। पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि वीर-निर्वाण की आठवीं-नवीं सदी के पूर्व इनका निर्माण हुआ था।

डॉ. ए. बी. देव[२] इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि निर्युक्तियां निश्चय से ही छेद सूत्रों के बाद की कृतियां हैं।

वर्तमान में विभिन्न आगम ग्रन्थों पर दस निर्युक्तियां उपलब्ध हैं।

कई विद्वानों का मत है कि सभी निर्युक्तियां प्रथम भद्रबाहु—जिनका समय वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी है—की कृतियां हैं। परन्तु यह तथ्य कसौटी पर खरा नहीं उतरता। इसका कारण यह है कि नई निर्युक्तियों में ऐसे व्यक्तियों का उल्लेख है जो निश्चय ही भद्रबाहु के बाद के हैं। उदाहरणस्वरूप उत्तराध्ययन निर्युक्ति में स्थूलिभद्र का और आवश्यक निर्युक्ति में वज्रस्वामी और आर्यरक्षित का उल्लेख हुआ है। यदि हम सभी निर्युक्तियों का कालमान प्रथम भद्रबाहु (वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी) पर निर्धारित करते हैं तो उक्त तथ्य का खण्डन स्वयं अपने तर्कों से हो जाता है।

ओघनिर्युक्ति और पिण्डनिर्युक्ति की समीक्षा से कुछ तथ्य सामने आ सकते हैं।

मुनि पुण्यविजयजी इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि छेद सूत्रकार आचार्य

---

१. **Indian Historical Quarterly, vol. 12, p. 270.**

२. **History of Jain Monachism, p. 32.**

भद्रबाहु और निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु एक नहीं हैं।

डॉ. घाट्गे के अनुसार 'ओघ-निर्युक्ति' और 'पिण्ड-निर्युक्ति' क्रमशः दशवैकालिक निर्युक्ति और आवश्यक निर्युक्ति की उपशाखाएं हैं। परन्तु यह विचार प्रशस्त टीकाकार आचार्य मलयगिरि के विचार से नहीं मिलता। उनके अनुसार 'पिण्ड-निर्युक्ति' दशवैकालिक निर्युक्ति का ही एक अंश है; ऐसा पिण्ड-निर्युक्ति की टीका में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। आचार्य मलयगिरि दशवैकालिक निर्युक्ति को चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु की कृति मानते हैं। और पिंडैषणा नामक पांचवें अध्ययन पर बहु विस्तृत निर्युक्ति हो जाने के कारण उसको अलग रखकर स्वतंत्र शास्त्र के रूप में 'पिण्ड-निर्युक्ति' नाम दिया गया है, ऐसा मानते हैं।[१] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'पिण्ड-निर्युक्ति' दशवैकालिक निर्युक्ति का ही एक विस्तृत अंश है। स्वयं आचार्य मलयगिरि इसको सिद्ध करते हुए कहते हैं—'पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिक निर्युक्ति के अंतर्गत होने के कारण ही इस ग्रन्थ के आदि में 'नमस्कार' नहीं किया गया है और दशवैकालिक निर्युक्ति के मूल के आदि में निर्युक्तिकार नमस्कारपूर्वक ग्रन्थ को प्रारम्भ करते हैं।

परन्तु टीकाकार का यह तर्क भी सुदृढ़ हो, ऐसा नहीं लगता। सर्वप्रथम तो 'दशवैकालिक निर्युक्ति' के रचयिता प्रथम भद्रबाहु स्वामी ही हैं, ऐसा साधारणतः नहीं कहा जा सकता।

प्रचलित मान्यता के अनुसार इन निर्युक्तियों के कर्ता एक ही माने जाते रहे हैं। मतभेद इतना ही है कि निर्युक्तिकार प्रथम भद्रबाहु थे या द्वितीय भद्रबाहु। सभी निर्युक्तियों के पारायण से तो वे द्वितीय भद्रबाहु की ठहरती हैं। आवश्यक निर्युक्तिकार स्वयं कहते हैं कि 'मैं निम्नोक्त दस[२] निर्युक्तियों का

---

१. दशवैकालिकस्य च निर्युक्तिश्चतुर्दशपूर्वविदा भद्रबाहुस्वामिना कृता, तत्र पिण्डैषणाभिधापञ्चमाध्ययननिर्युक्तिरति-प्रभूतग्रन्थत्वात् पृथक् शास्त्रान्तरमिव व्यवस्थापिता तस्याश्च पिण्डनिर्युक्तिरिति नामकृतं.....अत एव चादावत्र नमस्कारोऽपि न कृतो दशवैकालिकनिर्युक्त्यन्तरगतत्वेन शेषा तु निर्युक्तिर्दशवैकालिक-निर्युक्तिरिति स्थापिता।

२. आवस्सगस्स दसकालियस्स तह उत्तरज्झमायारे। सूयगडे निज्जुत्तिं वोच्छामि तहा दसाणं च ।। कप्पस्स य निज्जुत्तिं ववहारस्सेव परमनिउणस्स। सूरियपण्णत्तीए वोच्छं इसिभासियाणं च। एतेसिं निज्जुत्तिं वोच्छामि अहं जिणोवदेसेणं—

(आवश्यकनिर्युक्ति गाथा. ८४।८५।८६)।

कथन करूंगा'—

१. आवश्यक निर्युक्ति, २. दशवैकालिक निर्युक्ति, ३. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, ४. आचारांग निर्युक्ति, ५. सूत्रकृतांग निर्युक्ति, ६. दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति ७. कल्प निर्युक्ति ८. व्यवहार निर्युक्ति, ९. सूर्यप्रज्ञप्ति निर्युक्ति, १०. ऋषिभाषित निर्युक्ति।

यह प्रमाण इन दस निर्युक्तियों की एककर्तृक मान्यता को प्रमाणित करने के लिए उपयुक्त है। शेष यह रह जाता है कि यदि हम प्रथम भद्रबाहु को इन सबके रचयिता मानते हैं तो बहुत-सा विसंवाद आता है। कारण कि आवश्यक निर्युक्ति में ऐसी घटनाओं और निह्नवों का उल्लेख हुआ है जिनका समय महावीर से लगाकर वीर-निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात् तक उन्होंने स्वयं बतलाया है।[१] दूसरी बात यह है कि आवश्यक निर्युक्ति में स्वयं निर्युक्तिकार 'वज्रस्वामी' को वन्दन करते हैं। काल-क्रम के अनुसार प्रथम भद्रबाहु वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी में और 'वज्रस्वामी छठी शताब्दी में हुए थे, इसलिए स्वयं विरोध आता है।

दूसरा तर्क आचार्य मलयगिरि ने उपस्थित किया है—'पिण्ड-निर्युक्ति' के आदि में 'नमस्कार' नहीं किया गया है। अतः यह दशवैकालिक निर्युक्ति का ही अंश है जिसको कारणवश स्वतंत्र ग्रन्थ की मान्यता दे दी गई। यह ठीक है। परन्तु नमस्कार करने की परम्परा बहुत पुरानी है, ऐसा नहीं लगता। छेद-सूत्र या मूल सूत्रों का प्रारम्भ भी 'नमस्कार' पूर्वक नहीं हुआ है। टीकाकारों ने खींचातानीपूर्वक आदि मंगल, मध्य मंगल और अन्त मंगल की योजना की। मंगल वाक्य की परम्परा विक्रम की तीसरी शताब्दी के बाद की है। विषय-साम्य की दृष्टि से दशवैकालिक निर्युक्ति और 'पिण्डनिर्युक्ति' का समन्वय किया गया। परन्तु वह (पिण्डनिर्युक्ति) अन्यकर्तृक नहीं है इसका प्रमाण आचार्य मलयगिरि की टीका के सिवाय अन्यत्र नहीं मिला है।

जर्मन विद्वान् 'विन्टरनित्स'[२] के अनुसार ओघनिर्युक्ति, जिसके टीकाकार

---

१. चोद्दस सोलस वासा चउद्दसवीसुत्तरा य दोन्नि सया।
अट्ठावीसा य दुवे पंचेव सया उ चोयाला।। (आ.नि.गा. ७८२)
पंचसया चुलसीता छच्चेव सता नवोत्तरा होंति।
णाणुप्पत्तीय दुवे उप्पण्णा निव्वुए सेसा।। (आ.नि.गा. ७८३)

२. Winternitz--of cit, p. 465.

श्रीमद् द्रोणाचार्य हैं, को प्रथम भद्रबाहु कृत मानते हैं। किन्तु निर्युक्ति की प्रथम गाथा में 'दशपूर्वधर' आदि को नमस्कार किया गया है। इसलिए स्वयं टीकाकार यहां यह शंका उपस्थित करते हैं कि 'चतुर्दश पूर्वधर' आचार्य दशपूर्वधर को क्यों नमस्कार करते हैं? इस प्रश्न का समाधान स्वयं वे ही 'गुणाहिए वंदयणं' कहकर कर देते हैं।

परन्तु यह समाधान औपचारिक लगता है। श्रुत-सम्पदा के आधार पर पदवियों का विभाजन होता था, ऐसी जैन-परम्परा रही है। ऐसी अवस्था में विशिष्ट श्रुतधर द्वारा अल्प श्रुतधरों को नमस्कार किया जाना संगत नहीं लगता।

अन्तिम दशपूर्वधर वज्रस्वामी थे। द्वितीय भद्रबाहु उनके बाद हुए। इनके द्वारा दशपूर्वधरों को नमस्कार किया जाना संगत लगता है। अतः इसको द्वितीय भद्रबाहु की रचना मानना ज्यादा तथ्यपूर्ण प्रतीत होता है।

दूसरी बात है निर्युक्तियों की असंगत बातें। श्रीमज्जयाचार्य ने आगम-ग्रन्थों की प्रामाणिकता का निर्णय करते हुए लिखा—गणधर कृत ग्यारह अंग स्वतः प्रमाण हैं। साथ-साथ केवली, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दश पूर्वधर और सम्पूर्ण दशपूर्वधर की रचनाएं भी प्रमाण हैं। प्रामाणिकता की यह इयत्ता बुद्धिगम्य है। किन्तु अधिक व्यापकता के लिए उन्होंने यह भी लिखा कि—'इनके सिवाय अन्यान्य ग्रन्थों की वे बातें भी मुझे मान्य हैं जो आगमिक तथ्यों की प्रतिकृति हैं। आगम से विपरीत जाने वाले तथ्य कभी मान्य नहीं हैं, चाहे वे किसी के द्वारा क्यों न लिखे गए हों।'

इस निर्णय के आधार पर यह फलित होता है कि दशपूर्वधर तक का ज्ञान विसंवादी नहीं होता। वे वही कहते हैं जो अंगों से मिलता-जुलता है। अतः उनका ज्ञान प्रमाण है।

इसलिए निर्युक्तियों को प्रथम भद्रबाहु कृत मानना स्वयं आपत्तिजनक है। कारण कि निर्युक्तियों में अनेक स्थल विसंवादी हैं। उदाहरणस्वरूप कुछेक नीचे दिए जाते हैं—

१. स्थानांग सूत्र में सनत्कुमार चक्रवर्ती की अन्तक्रिया कही है और आवश्यक[१] निर्युक्ति में कहा गया है कि चक्री सनत्कुमार देवलोक में गए।

१. **अट्ठेव गता मोक्खं, सुभुमो बंभो य सत्तमिं पुढविं।**
मघवं सणंकुमारो, सणंकुमारं कप्पं गता।। (आवश्यक निर्युक्ति गा. ४०१)

ये दोनों तथ्य परस्पर में विरोधी हैं।

२. ज्ञाता[१] धर्मकथा में उल्लेख है कि तीर्थंकर मल्लिनाथ को पौष शुक्ला एकादशी को कैवल्य प्राप्त हुआ था, परन्तु आवश्यक निर्युक्ति में मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को कैवल्य-प्राप्ति माना गया है।[२] यह विरुद्ध वचन है।

इसी प्रकार अन्यान्य भी बहुत से उदाहरण हैं। निबन्ध का कलेवर बढ़ जाने के भय से उनका विस्तार नहीं दिया गया। संक्षेप में अवगाहन, आयुष्य, सचित्त भोजन आदि के विषय में अनेक विसंवाद निर्युक्तियों से संकलित किए जा सकते हैं। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर निर्युक्तियों का आनुमानिक कालमान निर्धारित किया जा सकता है। परन्तु कौनसी निर्युक्ति किनकी है यह जब तक निश्चय नहीं हो जाता या अमुक निर्युक्ति आगम-संगत है या नहीं, यह निर्धारण नहीं हो जाता तब तक इनका कालमान निर्धारित करना कठिन है।

प्रो. हीरालाल जैन ने द्वितीय भद्रबाहु को ही निर्युक्तिकार माना है। श्वेताम्बर मुनिश्री चतुरविजयजी 'श्री भद्रबाहु स्वामी' शीर्षक लेख[३] में अनेक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध करते हैं कि निर्युक्तिकार श्री भद्रबाहु विक्रम की छठी शताब्दी में हो गए हैं। वे जाति से ब्राह्मण थे। प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर इनका भाई था.......निर्युक्तियां आदि सर्व कृतियां इनके बुद्धि-वैभव से उत्पन्न हुई हैं........ वराहमिहिर का समय ईसा की छठी शताब्दी? (५०५ से ५८ ए.डी.) है। इससे भद्रबाहु का समय भी छठी शताब्दी ही सिद्ध होता है।

भाष्य

निर्युक्तियों के बाद भाष्य बने। ये प्राकृत भाषा के पद्यों में लिखे गए। यह बताया जा चुका है कि निर्युक्तियां संक्षेप में लिखी गई थीं। उनको समझाने के लिए तथा आगमार्थ को स्पष्ट करने के लिए भाष्यों का उद्भव हुआ। निम्नोक्त ग्यारह[४] ग्रन्थों पर भाष्य मिलते हैं–

---

१. ज्ञाता ८।२२५।

२. 'मग्गसिर सुद्धिक्कारसीए मल्लिस्स....(आ.नि.गा. २५०)

३. अनेकान्त वर्ष ३, किरण १२।

४. डॉ. हीरालाल कापड़िया रचित–
The Canonical Literature of the Jains, p. 187.

१. आवश्यक सूत्र, २. दशवैकालिक सूत्र, ३. उत्तराध्ययन, ४. व्यवहार, ५. निशीथ, ६. बृहत्कल्प, ७. जीतकल्प, ८. पंचमंगल श्रुतस्कन्ध, ९. ओघनिर्युक्ति, १०. पंचकल्प, ११. पिण्ड-निर्युक्ति।

इनमें से कई भाष्यों का कालमान और भाष्यकार का नाम अभी भी अज्ञात है। भाष्य के प्रारम्भ में या अन्त में कहीं भी नामोल्लेख नहीं हुआ है।

आवश्यक सूत्र पर जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का विशेषावश्यक है। वे सातवीं सदी में हुए थे। पंचकल्प पर संघदास तथा धर्मसेनगणी का भाष्य है। वे छठी शताब्दी में हुए थे। बृहत्कल्प के भाष्यकार संघदासगणी हैं।

चूर्णि

इनकी भाषा प्राकृत या संस्कृतमिश्रित प्राकृत है। ये गद्यात्मक हैं। इनके बीच-बीच में विषय को स्पष्ट करने के लिए निर्युक्ति और भाष्य की गाथाएं भी प्रयुक्त की गई हैं। साथ-साथ अन्यान्य ग्रन्थों के श्लोक भी प्रयुक्त हैं। ये भाष्य के बाद लिखी गई थीं—यह अनुमान इस आधार पर किया जा सकता है कि भाष्य तो केवल प्राकृत भाषा में ही हैं और चूर्णियां संस्कृतमिश्रित प्राकृत भाषा में। ज्यों-ज्यों प्राकृत भाषा का प्रभुत्व घटा त्यों-त्यों संस्कृत भाषा का प्रभुत्व बढ़ने लगा। उसका असर साहित्य पर आया, गाथा-संस्कृत में साहित्य का निर्माण हुआ। कुछ भी हो, साधारणतः चूर्णियों का रचनाकाल निर्युक्ति और भाष्य के बाद का है—इसमें कोई विवाद नहीं रह जाता।

मुनिश्री नथमलजी ने अपनी पुस्तक **'जैन-दर्शन : मनन और मीमांसा'** में जिन सत्तरह चूर्णियों के नाम गिनाये हैं और उनके कर्ता तथा कालमान की चर्चा की है, वे यों हैं—

निम्न आगम-ग्रंथों पर चूर्णियां मिलती हैं[१]—

१. आवश्यक, २. दशवैकालिक, ३. नन्दी, ४. अनुयोगद्वार, ५. आचारांग, ६. उत्तराध्ययन, ७. सूत्रकृतांग, ८. निशीथ, ९. व्यवहार, १०. बृहत्कल्प, ११. दशाश्रुतस्कन्ध, १२. जीवाभिगम, १३. भगवती, १४. महानिशीथ, १५. जीतकल्प, १६. पंचकल्प, १७. ओघ-निर्युक्ति।

---

१. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, पृ. ९०,९१।

प्रथम आठ के कर्ता जिनदास महत्तर हैं। इनका जीवनकाल विक्रम की सातवीं शताब्दी है। जीतकल्प चूर्णि के कर्ता सिद्धसेनसूरि हैं। बृहत्कल्प चूर्णि प्रलम्बसूरि की है। शेष चूर्णिकारों के विषय में अभी जानकारी नहीं मिल रही है। दशवैकालिक की एक चूर्णि और है। उसके कर्ता हैं अगस्त्यसिंह स्थविर।

प्रो. हीरालाल कापड़िया ने बीस चूर्णियों के नाम गिनाये हैं। बहुत-सी चूर्णियां अभी भी मुद्रित नहीं हो पायी हैं। उनकी मूल ताड़पत्रीय प्रतियां या अन्य आदर्श जैन भंडारों में सुरक्षित हैं। चूर्णियां सूत्रस्पर्शी ही हुई हों, ऐसी बात नहीं है। उनमें अनेक स्थलों पर विसंवाद आया है। आगम से विरोधी बातों का संकलन इसमें हुआ है, यह भली-भांति कहा जा सकता है। फिर भी चूर्णिकार विषयों को स्पष्ट करने में तथा मूलागमों के हृदय को पकड़ने में अधिक सफल हुए हैं। टीकाकारों से ये अधिक विश्वस्त हैं, ऐसा माना जा सकता है।

श्रीमज्जयाचार्य ने इन चूर्णियों से कई आगम-विरोधी स्थल संकलित किए हैं, जैसे–

१. सूत्रों[१] में रात्रि-भोजन का स्पष्ट निषेध है, परन्तु बृहत्कल्प के चूर्णिकार ने अपवादस्वरूप रोगादिक में रात्रि-भोजन लेने का विधान किया है।

यही तथ्य मूल निशीथ सूत्र में तथा निशीथ-चूर्णि में विरोधात्मक रूप से संकलित हुआ है।

२. निशीथ सूत्र के पन्द्रहवें उद्देशक में सचित्त आम चूसने वाले मुनि को चौमासी प्रायश्चित्त कहा है। परन्तु चूर्णिकार रोगादि को मिटाने के लिए अथवा ऊनोदरी से व्याकुल हो जाने पर मुनि को सचित्त आम चूसने की आज्ञा देते हैं, यह स्पष्टतः आगम-विरुद्ध है।

टीका

आगम के व्याख्यात्मक ग्रन्थों में चौथा स्थान टीका का है। ये संस्कृत भाषा में लिखी गई हैं। संस्कृत-साहित्य में इनका अपूर्व स्थान है। इन टीकाओं में केवल आगमिक तत्त्वों का ही विवेचन नहीं हुआ है, बल्कि अन्यान्य जैन परम्पराओं और जैनेतर परम्पराओं का भी समुचित संकलन हुआ है। इनके अध्ययन से तात्कालिक सामाजिक, राजनीतिक तथा भौगोलिक स्थितियों का

१. प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध–विसंवाद अधिकार।

विशद ज्ञान हो सकता है। टीकाकारों का साहित्य के सभी क्षेत्रों में प्रवेश था। वे व्याकरण तथा भाषा-विज्ञान के निष्णात पंडित थे। सामाजिक तथा परम्परागत ज्ञान से भी वे परिचित थे। इसी प्रकार इतिहास, भूगोल, रसायनशास्त्र, शरीरविज्ञान, औषधि-विज्ञान आदि का भी उनका अध्ययन था। यन्त्र, मन्त्र और तन्त्र के तो वे अच्छे ज्ञाता थे। इन सब की स्पष्ट झांकी किसी भी सांगोपांग टीका से सहजतया हो सकती है। परन्तु एक बात जरूर खटकने योग्य है। यद्यपि टीकाकारों की सार्वदिक् विद्वत्ता में संशय नहीं किया जा सकता, फिर भी टीकाओं का बहुत-सा क्षेत्र आगम से भिन्न रहा है। एक-दो टीकाकारों को छोड़कर शेष सभी टीकाकार आगमेतर ग्रन्थों की टीका करते हैं। यह क्यों? इसका समाधान सरल नहीं है। आगमों के सर्वप्रथम संस्कृत टीकाकार हरिभद्र सूरि हैं। उनका जीवनकाल विक्रम की आठवीं शताब्दी है। उन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोगद्वार, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति और जीवाभिगम पर टीकाएं लिखी हैं। तत्त्वार्थसूत्र और दशवैकालिक पर इनकी लघुवृत्ति भी है। इनके साथ-साथ अनेक दार्शनिक ग्रन्थों पर भी उनकी टीकाएं विश्रुत हैं। उन्होंने क्षेत्र समासवृत्ति, लोकबिन्दु आदि भौगोलिक ग्रन्थ भी लिखे और अनेक प्रकीर्णक ग्रन्थों की रचना की। शीलांकसूरि ने आचारांग और सूत्रकृतांग पर टीकाएं लिखीं। इनका काल विक्रम की आठवीं-नवीं शताब्दी से है। अनुयोगद्वार पर मलधारी हेमचन्द्र की टीका मननीय है। इनका कालमान विक्रम की बारहवीं शताब्दी है। शेष नव अंगों के टीकाकार हैं अभयदेवसूरि। इनका जीवन-काल विक्रम की बारहवीं शताब्दी है। नन्दी, प्रज्ञापना, व्यवहार, चन्द्र-प्रज्ञप्ति, जीवाभिगम, आवश्यक, बृहत्कल्प, राजप्रश्नीय आदि के टीकाकार आचार्य मलयगिरि हैं।

यह संस्कृत भाषा के उत्कर्ष-काल की कहानी है। जैनाचार्यों की संस्कृत-सेवा अद्वितीय है। संभवतः कुछ क्षेत्रों में संस्कृत-भाषा जन-भाषा के रूप में स्वीकृत कर ली गई थी। अतः यह आवश्यक था कि धर्माचार्य भी उसी में लिखते या बोलते थे। इस काल में अनेकानेक संस्कृत ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। ग्रन्थ-प्रणयन की परिधि केवल आगम-साहित्य तक सीमित नहीं रही, अन्यान्य आगमेतर साहित्य पर भी उन्होंने टीकाएं लिखीं। अपने ग्रन्थों पर उनकी टीकाएं आज भी उपलब्ध हैं। भारत के कविशेखर बाण के महान् काव्य 'कादम्बरी' पर आज भी जैनाचार्य द्वारा रचित टीका ही सर्वमान्य है। इस ग्रन्थ

पर और भी अनेक टीकाएं हैं, परन्तु यह टीका ही सर्वोत्तम मानी जाती है और एम.ए. आदि कक्षाओं में वही पढ़ाई जाती है। ज्योतिष-ग्रन्थ, चिकित्सा-ग्रन्थ, भक्ति-ग्रन्थ, न्याय-ग्रन्थ, दार्शनिक-ग्रन्थ भी जैनाचार्यों की अपूर्व देन हैं। अभी-अभी मैसूर में एक व्याकरण-ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है जो कि एक जैन मुनि की कृति है। वह अपनी कोटि का एक ही है।

टीकाकारों का काल संघर्ष का काल था। जैनेतर दार्शनिक जैन धर्म के उन्मूलन पर डटे हुए थे। उन्हें स्थान-स्थान पर वाद-विवाद के लिए ललकारा जाता। जैनाचार्य इसमें भी पीछे नहीं रहे। न्याय ग्रन्थों का सुघटित ग्रन्थन हुआ और जैनेतर तर्क कार्कश्य का उन्मूलन किया गया। इन संघर्षों का प्रभाव आगम की आत्मा पर पड़ा। वे आगम-साहित्य की समृद्धि से कुछ-कुछ उदासीन-से हुए। इसलिए उस समय जैनाचार्यों का आगम-ग्रन्थों पर कुछ लिखना छूट-सा गया। कभी-कभी कोई लिख भी देते—परन्तु वह नगण्य-सा था।

इस प्रकार आगम-साहित्य से सम्पर्क कम रह जाने से आगम-ज्ञान की गुरुता नहीं रही। परम्पराओं का विच्छेद होने लगा। मंत्र-यंत्र के बखेड़ों से मूलाचार में कमी आयी। इतना ही नहीं, आगमकारों का अभिप्रेत अर्थ भी उनकी समझ से दूर होता गया। इसीलिए टीकाओं में आगमों से विरुद्ध अनेक तथ्यों का समावेश हुआ है।

दीपिका, वार्तिक और स्तवक (टब्बा)

टीकाएं विस्तृत होती थीं। वे सभी के लिए सुभोग्य नहीं बन सकीं। इसीलिए आचार्यों ने लघु-टीका (दीपिका) लिखी। अनेक सूत्रों पर दीपिकाएं आज भी उपलब्ध हैं। दीपिकाएं केवल 'शिष्यसुबोधाय' के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुईं।

संस्कृत भाषा का प्रभाव मिटता गया। विभिन्न स्थानों में विभिन्न भाषाओं का आधिपत्य होने लगा। सोलहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक मराठी-भाषा का उत्कर्ष-काल माना जाता है। उसी प्रकार राजस्थानी, तेलगु, कन्नड़, तमिल आदि भाषाएं भी पूर्ण उन्नत हो रही थीं। उनमें साहित्य की रचना होना स्वाभाविक था।

जैनाचार्य लोक-भाषा के पोषक रहे हैं। तत्तद्देशीय शब्दों का संकलन

मूलागमों में तथा व्याख्यात्मक ग्रन्थों में हुआ है। इसीलिए जैन-साहित्य भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

सोलहवीं-सत्तरहवीं शताब्दी में संस्कृत भाषा का अभ्यास अतिन्यून हो गया। जैन संघ दो भागों में विभक्त हो गया—मूर्ति-पूजक, अमूर्ति-पूजक। एक पक्ष आगम, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका आदि को प्रमाण मानकर चलता है; दूसरा पक्ष मूलागम तथा उनसे मिलते-जुलते अर्थ को स्वीकार करता है। इस विषय में काफी संघर्ष हुआ। टब्बे लिखने की परम्परा का जन्म हुआ। अठारहवीं शताब्दी में पायचन्द्रसूरि और धर्मसिंह मुनि ने गुजराती में टब्बे लिखे। विस्तृत टीकाओं का रसपान जिनके लिए सुगम नहीं था, उनके लिए ये बड़े उपयोगी बने। दूसरे ज्यों-ज्यों संस्कृत का प्रसार कम हो रहा था त्यों-त्यों लोग विषय से दूर होते जा रहे थे। इनकी (टब्बों की) रचना उस कमी की पूर्ति करने में सिद्ध हुई। हजारों जैन मुनि इन्हीं के सहारे सिद्धान्त के निष्णात बने।[१]

स्तवकों की भाषा राजस्थानी मिश्रित गुजराती है। इनमें मौलिक चिन्तन कम मिलता है, केवल टीकाकारों का अनुकरण ही विशेषतः दृष्टिगोचर होता है।

उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में जैन तेरापंथ के चतुर्थ शासनाधिपति श्रीमज्जयाचार्य एक प्रशस्त टीकाकार और स्तवककार के रूप में सामने आए। उनकी तलस्पर्शिनी मेधा आज भी विद्वानों का पथ प्रशस्त कर रही है। उन्होंने मौलिक चिन्तन दिया और अपनी प्रखर प्रतिभा से मूलागमों से साररूप नवनीत उपस्थित किया। जब जैन विद्वान् दलसुखभाई मालवणिया, कानपुर में आगम-कार्य की जिज्ञासा लिए हुए आए थे तब प्रसंगोपात्त उन्हें श्रीमज्जयाचार्य के ग्रन्थ दिखलाए गए। सहसा उन्होंने कहा कि यदि यह कार्य जन-सुलभ हो सके तो बहुत लाभप्रद हो सकता है।

इस प्रकार आगमों का व्याख्यात्मक-साहित्य अति प्रचुर मात्रा में लिखा गया है और समय के व्यवधान के साथ-साथ उसका विस्तार भी होता गया। सद्यस्क आवश्यकता है कि उन व्याख्यात्मक ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद हो और वे सुसंपादित होकर जनभोग्य बन सकें।

---

१. मुनिश्री नथमलजी के 'श्रीमज्जयाचार्य की साहित्य-साधना पर दृष्टि' निबन्ध से।

२०. व्याख्या-ग्रन्थों का अध्ययन क्यों?

आचार्यश्री तुलसी ने वि. सं. २०१२ में आगम-सम्पादन का कार्य प्रारम्भ किया। यह तेरापंथ शासन के लिए एक नया कार्य था। इससे पूर्व तेरापंथ के किसी भी आचार्य ने आगम-सम्पादन या अनुवाद का सर्वांगीण कार्य हाथ में नहीं लिया था। श्रीमज्जयाचार्य इसके अपवाद हैं; उन्होंने कई सूत्रों का राजस्थानी भाषा में पद्यमय अनुवाद किया है तथा यत्र-तत्र टिप्पण भी लिखे हैं। **'भगवती की जोड़'** उनकी उत्कृष्ट कृति है।

आगम-सम्पादन कार्य के साथ-साथ व्याख्या-ग्रन्थों के अनुशीलन की प्रवृत्ति भी बढ़ी। ऐसे तो हमारे आचार्य तथा साधु चूर्णि, टीका का वाचन करते ही थे, किन्तु वह एक सीमित उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता था। तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयगणि ने आगम के व्याख्या-ग्रन्थों का गहरा अध्ययन किया और उनका प्रचुर मात्रा में यत्र-तत्र प्रयोग भी किया तथा संभव है कि हमारे शासन-तन्त्र की परम्पराओं के निर्माण में चूर्णिगत तथ्यों का पुष्ट आधार रहा हो। किन्तु यह वाचन श्रीमद् जयाचार्य जैसे महान् विद्वानों तक ही सीमित रहा, वह व्यापक नहीं बन सका। जब वि. सं. १९९३ में आचार्यश्री ने तेरापंथ का शासन-तन्त्र संभाला तब उनके मन में व्याख्या-ग्रन्थों के 'पठन-पाठन' के प्रति एक रुचि उत्पन्न हुई और वे इसकी पृष्ठभूमि के निर्माण में लग गए। संस्कृत-भाषा का जो बीजारोपण तेरापंथ के आठवें आचार्य श्रीमद् कालूगणी के शासनकाल में हुआ था, वह पल्लवित होने लगा। अनेक साधु-साध्वियां संस्कृत-भाषा के पठन-पाठन में लग गए। देखते-देखते वे संस्कृत-भाषा में पारंगत हो गए और ग्रन्थों का प्रणयन होने लगा। प्राकृत का अध्ययन भी होता रहा।

आगम-सम्पादन कार्य के प्रारम्भ होते ही यह प्रतीत होने लगा कि व्याख्या-ग्रन्थों के पारायण के बिना सूत्रगत तथ्यों का हार्द नहीं पकड़ा जा सकता। यह धारणा पुष्ट होती गई और हमारी रुचि उस ओर तीव्र होती गई। इस अन्तराल में कई जैन विद्वानों ने भी हमें चूर्णि-टीकाओं के अध्ययन की बात कही। हमने अपना पारायण प्रारम्भ किया। आचार्यश्री के पास 'ओघनिर्युक्ति' का वाचन प्रारम्भ हुआ। मुनिश्री नथमलजी वाचन कर उनका हार्द समझाते और हम साधु-साध्वियां उसका श्रवण करते। उन दिनों

दशवैकालिक सूत्र के सर्वांगीण सम्पादन का कार्य चल रहा था। अनुवाद और टिप्पण लिखे जा रहे थे। ओघनिर्युक्ति और पिंडनिर्युक्ति के अध्ययन से टिप्पण लिखने या हार्द समझने में बहुत सहयोग मिला। 'ओघ-निर्युक्ति' का वाचन पूर्ण हुआ। 'पिण्ड-निर्युक्ति' का वाचन प्रारम्भ हुआ। एक दिन मुनिश्री ने कहा—पिण्डनिर्युक्ति को पढ़े बिना दशवैकालिक सूत्र के पांचवें अध्ययन 'पिण्डैषणा' को सम्पूर्ण रूप से नहीं समझा जा सकता और ओघनिर्युक्ति के पारायण के बिना उत्तराध्ययन में वर्णित 'दसविध सामाचारी' आदि को नहीं समझा जा सकता।

आगम-रचना अत्यन्त संक्षिप्त शैली में हुई है। उसका हार्द व्याख्या-ग्रन्थों से स्पष्ट होता है। उदाहरण के लिए उत्तराध्ययन सूत्र में प्रथम अध्ययन में एक पद है—**'तओ झाएज्ज एगओ'**।[1] इसका शाब्दिक अर्थ है—'ध्यान अकेला करे।' किन्तु इससे वास्तविक अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती। इसका हार्द ओघनिर्युक्ति के अध्ययन से समझ में आया। उसमें एक स्थान पर दसविध मंडलियों का वर्णन है, जैसे—स्वाध्याय मंडली, आहार मंडली, शयन मंडली आदि। इन मंडलियों का तात्पर्य यह है कि दस प्रकार के कार्य सामुदायिक होते हैं, मंडलियों में किए जाते हैं। किन्तु ध्यान मंडलीगत नहीं होता। वह अकेले में होता है। इतना ज्ञात होने पर **'तओ झाएज्ज एगओ'** के पीछे जो रहस्य छिपा हुआ है, वह स्पष्ट हो जाता है।

आचारांग सूत्र में दो शब्द-युगल आते हैं—**'समणुन्न असमणुन्न'**, **'पारिहारिअ अपारिहारिअ।'** टीकाकार ने इनका संक्षिप्त अर्थ किया है। किन्तु वह अर्थ पूर्ण परम्परा को अभिव्यक्त नहीं करता। अभी-अभी जब निशीथ भाष्य का वाचन हो रहा था, तब उसमें **परिहारिअ, अपरिहारिअ** और **अणु-परिहारिअ**—ये तीन शब्द आए। भाष्य तथा चूर्णिकार ने उनका विस्तार से अर्थ समझाया है। ये जैन शासन के विशेष शब्द हैं। इनके पीछे एक विशिष्ट परम्परा रही है, जो केवल शब्द से अभिव्यक्त नहीं होती। वह परम्परा यह है—

प्रायश्चित के संदर्भ में तप दो प्रकार का होता है—शुद्ध तप और परिहार तप। जो मुनि धृति से दुर्बल तथा शरीर से क्षीण होता है उसे प्रायश्चितस्वरूप शुद्ध तप दिया जाता है और जो मुनि धृति से तथा शरीर से बलवान् होता है

१. उत्तराध्ययन १।१०।

और जो गीतार्थ होता है उसे परिहार तप दिया जाता है। परिहार तप वहन करने वाला मुनि '**पारिहारिअ**' कहलाता है।

उसके लिए दस बातों का निषेध है—

१. दूसरों को सूत्र तथा अर्थ पूछने का निषेध और दूसरों द्वारा पूछने पर उन्हें सूत्र और अर्थ बताने का निषेध।

२. सूत्र और अर्थ का दूसरों के साथ परावर्तन करने का निषेध।

३. दूसरों के साथ गोचरी जाने का निषेध।

४. दूसरों के साथ वन्दन-व्यवहार का निषेध।

५. दूसरों के साथ पात्र-व्यवहार का निषेध।

६. दूसरों के उपकरण-प्रतिलेखन का निषेध।

७. दूसरों के साथ संघाटक-भाव का निषेध।

८. दूसरों को भक्त-पान देने का निषेध।

९. दूसरों के साथ भोजन करने का निषेध।

१०. दूसरे भी उपरोक्त बातें इसके साथ नहीं कर सकते।

यह '**पारिहारिअ**' शब्द के पीछे रही अर्थ-परम्परा थी। '**अनुपारिहारिअ**' उसे कहा जाता था, जो '**पारिहारिअ**' तप वहन करने वाले व्यक्ति को सहयोग देता। शेष व्यक्ति '**अपारिहारिअ**' कहलाते थे।

यह अर्थ परम्परा का ज्ञान भाष्य, चूर्णि के अध्ययन से ही प्राप्त हो सकता है, मूल सूत्र से नहीं।

अतः यह स्वयमेव स्पष्ट है कि आगमों को सही समझने के लिए उनके व्याख्या-ग्रन्थों का पठन-पाठन अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी है। आज हमारे अनेक साधु-साध्वी उनका तलस्पर्शी अध्ययन करते हैं और हमारी यह कल्पना भी है कि सभी भाष्य-चूर्णियों का आधुनिक ढंग से सम्पादन भी किया जाए।

कुछ समय तक हमारे संघ में इन व्याख्या-ग्रन्थों का अध्ययन छूट-सा गया था। उसके पीछे कुछ भी कारण रहा हो, वह अवरोध अवांछनीय ही माना जाएगा। आज स्थिति में परिवर्तन हुआ है। आचार्यश्री इनके अध्ययन-अध्यापन के लिए साधु-साध्वियों को प्रेरित करते हैं। अभी-अभी साध्वीश्री

मंजुलाजी (गणबहिष्कृत) तथा साध्वीश्री कनकप्रभाजी ने उत्तराध्ययन और दशवैकालिक सूत्र की निर्युक्ति का अनुवाद प्रारम्भ किया है। इसी प्रेरणा के फलस्वरूप अनेक व्याख्या-ग्रन्थों का पारायण हो चुका है। इसके आलोक में हम बहुत-बहुत लाभान्वित हुए हैं और हमारी परम्पराओं को पुष्टि मिली है।

२१. दशवैकालिक : कार्य-पद्धति

एक छोटी-सी कल्पना इतना बड़ा रूप धारण करेगी—यह कौन जानता था? टिमटिमाती लौ इतना प्रकाश-पुंज बिखेर देगी—यह किसने जाना? अणु-चिन्तन एक महान् कार्य की ओर प्रेरित करेगा, यह कौन जानता था?

'धर्मदूत' के वाचन से आचार्यश्री के चिन्तन में एक कल्पना उठी। उस पर मन ही मन विचार हुआ और उन्होंने सायंकाल साधुओं के समक्ष सारी कल्पना कह डाली। कल्पना का स्वागत हुआ और एक साथ सारे कंठ गूंज उठे—'हम यह कार्य करके रहेंगे।' आशा में जीवन होता है, संकल्प में बल—यह कौन नहीं जानता!

आगम-कार्य का प्रारम्भ इसी विचार-मंथन का नवनीत है। वर्षों से *आचार्यप्रवर के चिन्तन में यह तथ्य आता रहा है कि आगम-साहित्य बहुत ही* अस्त-व्यस्त पड़ा है—उसे यदि व्यवस्थित किया जाए तो जैन-दर्शन की वैज्ञानिकता स्वयं निखर उठेगी और अनेक विद्वान् इस ओर सहजतया आकृष्ट हो सकेंगे। परन्तु एक धर्म-संघ के अधिनायक होने के कारण अन्यान्य कार्यों की बहुलता ने इस कल्पना को साकार नहीं होने दिया। नियति भी कुछ होती है—काल का परिपाक हुआ और देखते-देखते आगम-कार्य चालू हो गया।

उज्जैन का चतुर्मास आगम-कार्य के लिए वरदान सिद्ध हुआ। चतुर्मास के प्रारम्भ में ही एक दिन आचार्यप्रवर ने साधु-साध्वियों की परिषद् में 'आगम-कार्य' पर विस्तृत प्रकाश डाला और कई साधु-साध्वियों को निर्देशक के रूप में कार्य करने का आदेश दिया। निर्देशक के नीचे कौन-कौन साधु-साध्वी यह कार्य करे इसकी समुचित व्यवस्था कर दी गई। सर्वप्रथम सूत्रों के शब्दों का 'अकारादि अनुक्रमणिका' के आधार पर चयन करना था।

दशवैकालिक सूत्र का यह कार्य साध्वीश्री रतनकुमारीजी को सौंपा गया। उन्होंने अपना कार्य श्रावण कृष्णा नवमी को प्रारम्भ किया और अपनी चार सहयोगी साध्वियों के साथ 'दत्तावधान' से कार्य करती हुई भाद्रव कृष्णा तीज को (२५ दिनों में) सारा कार्य सम्पन्न कर आचार्यप्रवर को सौंप दिया। शब्दों के चयन का आधार प्रोफेसर अभयंकर का अंग्रेजी अनुवाद वाला 'दसवेआलिय सुत्त' था। सर्वप्रथम वह प्रति प्रामाणिक मालूम हुई। इस चतुर्मास में लगभग पचास साधु-साध्वी इस कार्य में लगे थे और आचार्यप्रवर की प्रेरणा और साधु-साध्वियों के अदम्य उत्साह से प्रायः बत्तीस सूत्रों की 'अकारादि-अनुक्रमणिका' तैयार हो गई। चतुर्मास के बाद कार्य की गति कुछ मन्द हुई। इसका मुख्य कारण था कि आचार्यप्रवर कई एक संघीय कार्यों में अति व्यस्त रहने लगे—यह आवश्यक भी था। परन्तु साथ-साथ चिन्तन-मनन चलता रहता और कार्य को गति देने के लिए प्रयास किया जाता।

उन दिनों आचार्यप्रवर सरदारशहर में थे। एक जर्मन विद्वान् डॉक्टर रोथ जैन दर्शन संबंधी कई जिज्ञासाओं को लेकर आये। आगम-कार्य को देख वे अति प्रसन्न हुए और उन्होंने कई सुझाव भी दिये। उनके सुझाव सुन्दर थे। कार्य में मोड़ आया और कार्य पुनः द्रुतगति से चलने लगा।

दशवैकालिक का पाठ-संशोधन

सबसे बड़ी कठिनाई पाठ-संशोधन की थी। जितने आदर्श उतने ही पाठ। एक निर्णय पर पहुंचना अति कठिन था। उस समय तक अगस्त्यसिंह मुनि की चूर्णि प्राप्त नहीं हो सकी थी। परन्तु आचार्यश्री के पास अन्यान्य आदर्शों से पाठ-संशोधन का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया।

'पाठ-संशोधन' के ग्रुप में कार्य करने वाले पांच-पांच साधुओं को आचार्यश्री ने अपने पास बुला लिया। सभी आचार्यश्री के सामने एक-एक आदर्श ले बैठ जाते। एक साधु मूल-पाठ का उच्चारण करता और सभी साधु अपने-अपने आदर्शों से उसका मिलान करते। जहां-जहां फर्क आता वहां-वहां अन्वेषण किया जाता—अर्थ की दृष्टि से उसका मिलान होता और सारे पाठान्तरों को अलग-अलग नाम से अंकित कर लिया जाता। मुख्यरूप से चूर्णिकार जिनदास महत्तर और टीकाकार आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा सम्मत पाठों को विशेष महत्त्व देते। कभी-कभी चार-पाच श्लोकों में ही सारा समय लग

जाता। परन्तु कार्य की दृष्टि से वह आवश्यक था। इस प्रकार लगभग दो घंटे तक कार्य चलता। साधु-साध्वियों को न्याय, दर्शन, व्याकरण आदि का अध्ययन कराने के पश्चात् आचार्यप्रवर पुनः पाठ-संशोधन के कार्य में लग जाते। लगभग एक-डेढ़ घंटे तक कार्य चलता। बीच-बीच में आगन्तुक सज्जन दर्शनार्थ आते। कभी-कभी उनसे बातचीत करनी पड़ती थी। कुछ देर उनसे बातचीत कर पुनः उसी कार्य में लग जाते। आचार्यप्रवर की उस बलवती निष्ठा से कार्यकर्त्ताओं में स्वयं स्फूर्ति और उत्साह रहता था। कभी-कभी गर्मी के कारण कार्य में मन नहीं लगता, परन्तु आचार्यप्रवर के पास जाते ही हम सभी कठिनाइयों को भूल जाते और उसी उत्साह से कार्य में जुट जाते। उपर्युक्त समय तो प्रायः निर्धारित था ही, परन्तु जब कभी अवकाश होता आचार्यप्रवर आगम-कार्य में लग जाते। रात्रि में पुनः चिन्तन चलता और पाठ को स्थिर कर लिया जाता। साथ-साथ शब्दकोश का कार्य भी चलता रहता था। जितना पाठ संशोधित होता उसके अनुसार शब्दों का चयन, अर्थ और संस्कृत-छाया का कार्य पूरा किया जाता था। इस दिशा में आचार्यप्रवर के आदेशानुसार मुनिश्री नथमलजी और मुनिश्री बुद्धमल्लजी निर्देशक के रूप में काम करते और लगभग आठ-दस साधु उनके निर्देशानुसार शब्दों का अर्थ, संस्कृत-छाया आदि करते। दो साधु शब्दानुक्रमणिका को मिलाने में जुट जाते। कई साधु निर्देशकों को कथित सामग्री जुटाने में लगे रहते। एक साधु संशोधित पाठ की नवीन प्रति तैयार करने में संलग्न रहता। इस प्रकार लगभग पन्द्रह साधु एक साथ काम में लगे रहते। दृश्य देखते ही बनता था। आचार्य हेमचन्द्र की 'चौरासी कलमों वाली' बात के प्रत्यक्षीकरण से मन प्रसन्न हो उठता था। एकमात्र आचार्यप्रवर का संरक्षण और मुनियों के सतत परिश्रम से दशवैकालिक का शब्दकोश लगभग एक महीने में तैयार हो गया। अर्थ करने में जहां-जहां कठिनाइयां आतीं वहां आचार्यप्रवर अपनी बहुश्रुतता से उसे सुलझाते और दिशा-निर्देश करते रहते। कहना चाहिए कि आचार्यप्रवर का अधिक समय आगम-कार्य में लगता। संघ के एकमात्र अधिनायक होने के कारण शासन की सारणा-वारणा का सारा भार उन्हीं पर रहता है। पूर्ण कुशलता से उस कार्य का निर्वाह करते हुए भी आप इतना समय आगम कार्य में लगाते हैं, यही इस कार्य की शीघ्र समाप्ति का पूर्व संकेत है।

कई व्यक्ति आचार्यप्रवर के पास आते और पूछते—'आचार्यजी! आगम-

कार्य में कितने पंडित काम कर रहे हैं?' उनका आशय गृहस्थ वेतनभोगी पंडितों से था। आचार्यप्रवर कहते—'एक भी नहीं।' उन्हें आश्चर्य होता, परन्तु नहीं मानने जैसी बात भी तो नहीं थी। प्रतिदिन होने वाले कार्य प्रत्यक्ष प्रमाण थे। आचार्यप्रवर कहते—'तेरापंथ शासन में अध्ययन-अध्यापन का सारा कार्य गुरु-परम्परा से होता है। साधु-साध्वियों को पढ़ाने के लिए कोई भी वेतनभोगी पंडित नहीं रहता। हां! यदि कोई भोजन की तरह विद्या-दान भी करना चाहे तो हम यथावकाश उसे ले सकते हैं। गुरु-परम्परा के कारण ही अर्थ की परंपरा अक्षुण्ण रह सकती है। केवल पंडितों द्वारा किए गए कार्यों से अनर्थ हुआ है—यह आजकल प्रकाशित आगम-साहित्य से सहजतया जाना जा सकता है।

अगस्त्यसिंह मुनि की चूर्णि

यह चूर्णि हमें गत चतुर्मास में मिली। जो पाठ और अर्थ चिन्तनीय रखे गए थे उनका समाधान इस चूर्णि से हुआ, परन्तु कई एक नये पहलू भी सामने आए जिनका उल्लेख स्वतंत्र निबन्धों में किया जाएगा। दशवैकालिक की यह सबसे प्राचीन चूर्णि है, ऐसा विद्वानों का अभिमत है। मुनि पुण्यविजयजी के अथक परिश्रम से यह प्रकाश में आ सकी है। इसके प्रकाशन से नए तथ्यों की ओर ध्यान गया है। पाठ संबंधी कठिनाई कुछ हल अवश्य हुई है, फिर भी कई स्थल चिन्तनीय रह जाते हैं। उनके समाधान के लिए जैनेतर ग्रन्थों का अध्ययन अपेक्षणीय था। वह भी किया गया। उससे काफी समस्याएं हल हुईं। इस कार्य में अगस्त्यसिंह मुनि के पाठ और अर्थ मान्य किये गए हैं, परन्तु अनेक स्थलों पर स्वतंत्र चिन्तन से भी काम लिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कई स्थलों में अगस्त्य मुनि भी अर्थ पकड़ने में सफल नहीं हुए हैं। यह अन्यान्य प्रमाणों से पुष्ट हो जाता है। *ऐसी अवस्था में स्वतंत्र चिन्तन से काम नहीं लेना* आवश्यक हो जाता है।

शब्दों की संस्कृत-छाया में भी काफी समय लगाना पड़ा। सर्वप्रथम टीकाकार के आधार पर संस्कृत रूप लिखे गये, परन्तु उससे संतोष नहीं हुआ। तब स्वतंत्र चिन्तन से कई स्थलों को बदलना पड़ा और जो संस्कृत रूप निर्धारित किए गए उन पर सप्रमाण विस्तृत टिप्पणियां भी लिखी गई हैं।

इसी प्रकार एक विषय-सूची भी तैयार कर ली गई जिससे कि विहंगम दृष्टि से सारे सूत्रों का प्रतिपाद्य सहजतया सामने आ सके। एक विशेष बात

यह रही कि विषय-सूची के साथ-साथ पारिभाषिक शब्दों को भी अलग-अलग छांट लिया गया और चूर्णिकारों के आधार पर वे परिभाषाएं भी दे दी गईं, जिससे पाठक को अर्थ की मौलिकता भी ज्ञात हो सके। चूर्णि की प्रति फोटोप्रिन्ट थी। पढ़ने में कुछ कठिनाई भी होती, परन्तु कार्य-निष्ठा के आगे वे कठिनाइयां गौण थीं। कार्य बहुत ही प्रामाणिकता और तत्परता से किया गया है।

जहां कहीं विचारणीय-स्थल आया उसे चिन्तन के लिए छोड़ दिया गया। तत्पश्चात् अन्यान्य स्रोतों द्वारा उस स्थल को समझने का प्रयास किया गया। समझ में नहीं आने तक अन्वेषण चालू रहा और अन्यान्य विद्वानों से भी उक्त स्थलों पर परामर्श लिया गया।

यह तो सर्वमान्य है कि भगवान् महावीर का विहार-क्षेत्र बिहार और उसका पार्श्ववर्ती क्षेत्र ही रहा है। सूत्रों में स्थानीय शब्द संगृहीत हुए हैं, यह स्पष्ट है।

जब आचार्यश्री सीतापुर में विराजते थे वहां के डॉक्टर नवलबिहारी मिश्र तथा उनके साथी अवधी-भाषा का कोश तैयार कर रहे थे। अवधी-भाषा में प्राकृत और पाली के अनेक शब्द हैं। उनका सही अर्थ पकड़ने में उन्हें कठिनाई अनुभव हो रही थी। वे आचार्यश्री के पास आए और उन्होंने अपनी कठिनाइयां सामने रखीं। यथाशक्य उनका समाधान किया गया। दशवैकालिक (७/२८) में प्रयुक्त **'मइयं'** शब्द के अर्थ का निश्चय टीकाकार और चूर्णिकारों के आधार पर कर लिया गया, किन्तु उसका हार्द समझ में न आ सका था। कई जानकर व्यक्तियों से पूछा गया, कृषिकारों से भी पूछा गया, परन्तु सही अर्थ या प्रणाली समझ में नहीं आयी। डॉक्टर मिश्र से पूछे जाने पर उन्होंने कहा—यहां **'मडया'** शब्द का प्रयोग होता है। यह शब्द खेत में बीज बो देने के पश्चात् एक समकाष्ठ के टुकड़े से सारी जमीन को सम बनाने के अर्थ में रूढ़ है। यही अर्थ टीकाकारों और चूर्णिकारों ने किया है। सारी प्रणाली समझ में आ गई। कहने का तात्पर्य यह है कि तत्तद्देशीय शब्दों को यदि तत्तद्देशीय लोगों के द्वारा न समझा जाए तो सही अर्थ पकड़ने में कठिनाई होती है। इस प्रकार का प्रयास किया गया और बहुत कुछ सफलता प्राप्त हुई।

कार्य-काल में कई बार उतार-चढ़ाव आए। कार्य-प्रणाली में परिवर्तन हुए। ज्यों-ज्यों अन्वेषण का कार्य आगे बढ़ता गया त्यों-त्यों नए-नए तथ्य सामने आए। अब दशवैकालिक सूत्र का कार्य प्रायः समाप्ति पर है।

२२. दशवैकालिक : इतिहास और परम्परा

दशवैकालिक सूत्र की उत्पत्ति

सुधर्मा स्वामी भगवान् महावीर के पांचवें गणधर थे। उनके बाद जंबू स्वामी हुए। उनके निर्वाण के बाद आचार्य प्रभव संघ के अधिपति बने। एक बार उनके मन में यह चिन्ता हुई—मेरे पीछे आचार्य कौन होगा? उन्होंने अपने साधु-संघ को देखा। इस गुरुतर भार को वहन करने वाला वहां कोई नजर नहीं आया। चिन्तन चालू रहा। आखिर उन्होंने देखा कि राजगृह में शय्यंभव ब्राह्मण उनका उत्तराधिकारी बनने योग्य है। उन्होंने अपने दो शिष्यों को बुलाकर कहा—तुम राजगृह जाओ और शय्यंभव के यज्ञवाट से भिक्षा लाओ। यदि वह भिक्षा न दे तो यह कहकर लौट आना—'खेद है, तत्त्व नहीं जाना जा रहा है।'

दोनों शिष्य वहां गये। भिक्षा न देने पर उन्होंने कहा—'यह दुःख की बात है कि तत्त्व नहीं जाना जा रहा है।'

यज्ञवाट के दरवाजे पर बैठे शय्यंभव ने यह सुना। उसने सोचा—ये साधु उपशांत हैं, तपस्वी हैं। ये झूठ नहीं बोलते। क्या मैं अभी तक तत्त्व नहीं जान पाया? उसे शंका हुई। वह अपने अध्यापक के पास गया और उसने कहा—'तत्त्व क्या है?'

अध्यापक ने कहा—'वेद ही तत्त्व है।' शय्यंभव को यह नहीं जंचा। उसने अपनी तलवार बाहर निकालते हुए कहा—'यदि आप मुझे सही-सही तत्त्व नहीं बतायेंगे, तो मैं आपका सिर काट लूंगा।'

अध्यापक को कुछ डर लगा। उसने कहा—'अर्हत् प्ररूपित धर्म ही सच्चा तत्त्व है।' शय्यंभव को संतोष हुआ। वह अध्यापक के पैरों में गिर पड़ा। यज्ञवाट की समूची जमीन उन्हें देकर, वह उन दोनों साधुओं की खोज में निकल पड़ा। वे अपने आचार्य प्रभव के पास पहुंच गये थे। वह भी वहां आया। आचार्य को वंदना कर पूछा—'मुझे धर्म का रहस्य बताइये।'

आचार्य प्रभव ने उसे पहिचाना और साधु धर्म का मर्म समझाया। शय्यंभव प्रव्रजित हुए। वे चौदह पूर्वधर बने। जब उन्होंने दीक्षा ली, तब उनकी स्त्री गर्भवती थी। कौटुम्बिक लोग कहते—'यह अपनी तरुण स्त्री को छोड़कर साधु बना है। यह अपुत्र है।' उनकी स्त्री से पूछते—'क्या तू गर्भवती है?' वह

कहती—मनाक् (कुछ) आभास होता है।

यथासमय उसने एक पुत्र को जन्म दिया। बारह दिन पूर्ण होने पर उसका नामकरण हुआ। गर्भावस्था में लोगों के पूछने पर वह कहती—मनाक् (कुछ) आभास होता है, इसलिए उसका नाम 'मनक' रखा।

मनक आठ वर्ष का हो चुका था। एक बार उसने अपनी मां से पूछा—'मां मेरे पिता कौन है?' उसने कहा—'तेरे पिता प्रव्रजित हो गए।'

वह अपने पिता की खोज में घर से निकल पड़ा।

उन दिनों मुनि शय्यंभव चम्पापुरी में विहार कर रहे थे। मनक वहां पहुंचा। वह गांव के बाहर ठहरा। मुनि शौचार्थ बाहर जा रहे थे। मनक ने उन्हें देख वन्दना की। बालक को देखते ही मुनि के मन में प्रेम उमड़ पड़ा। बालक का मन भी प्रेम से गद्गद हो गया। मुनि ने पूछा—'तुम कहां से आये हो?'

मनक—राजगृह से।

मुनि—किस के पुत्र और पौत्र हो? यहां क्यों आये हो?

मनक—मेरे पिता का नाम शय्यंभव है। उन्होंने दीक्षा ले ली। मैं उनसे मिलने आया हूं। मैं दीक्षा लेना चाहता हूं। क्या आप उन्हें जानते हैं?

मुनि—हां, मैं उन्हें भलीभांति जानता हूं। वे मेरे अभिन्न मित्र हैं। तुम मेरे पास दीक्षा ले लो।

मनक—हां, ऐसा ही करूंगा।

मुनि अपने स्थान पर आये। कुछ सोचा और उसे दीक्षित कर दिया। उन्होंने अपनी योगदृष्टि से देखा कि इसकी आयु केवल छह मास की शेष रही है। इतने अल्पकाल में इसे विधिपूर्वक सारे शास्त्रों का अध्ययन नहीं कराया जा सकता। इसलिए मुझे ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि इस अल्प अवधि में ही सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र का पूर्ण अनुष्ठान कर सके।

ऐसा विचार कर आगम के पूर्व भाग से आवश्यक अंग उद्धृत कर एक शास्त्र रचा। उसके दस अध्ययन हुए और उसकी पूर्ति विकाल वेला में हुई, इसलिए उसका नाम **'दशवैकालिक'** सूत्र रखा।[१] यह स्वतंत्र रचना नहीं है। सारे अध्ययन अन्यागमों से संकलित किए गये हैं। इसमें भी दो पक्ष रहे हैं। एक पक्ष की यह मान्यता रही है कि आत्मप्रवाद (सातवें) पूर्व से धर्मप्रज्ञप्ति

१. **दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा, १४।**

(छज्जीवणिया) नामक चौथा अध्ययन, कर्मप्रवाद (आठवें) पूर्व से पिण्डैषणा नामक पांचवां अध्ययन, सत्यप्रवाद (छट्ठे) से 'वाक्य-शुद्धि' नामक सातवां अध्ययन और अवशिष्ट सात अध्ययन प्रत्याख्यान (नौवें) पूर्व की तीसरी वस्तु से निर्यूहण किए गए हैं।[१]

दूसरे पक्ष की यह मान्यता रही है कि 'मनक' पर अनुग्रह करके गणिपिटक-द्वादशांगी से दशवैकालिक सूत्र का निर्यूहण किया गया है।[२]

प्रारंभ में जैन सूत्र गणिपिटक या 'श्रुतज्ञान' की संज्ञा से व्यवहृत होते थे। नंदी सूत्र में अंग प्रविष्ट और अनंग प्रविष्ट या अंग बाह्य आदि संज्ञाएं मिलती हैं। उपांग, मूल, छेद आदि संज्ञाएं नहीं थीं। मूल, छेद, आवश्यक आदि संज्ञाएं बहुत बाद में व्यवहृत हुई।

जैन सूत्रों में नंदी, अनुयोगद्वार, दशवैकालिक और उत्तराध्ययन—इन चारों की मूल संज्ञा है। इसकी संगति यों है—आगम के अनुसार मोक्ष के चार मूल साधन हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप।[३] इन चारों सूत्रों में क्रमशः इन्हीं की प्रधानता है। दशवैकालिक सूत्र में साधु के आचार का निरूपण है। इसलिए इसे मूल संज्ञा दी गई है।

दशवैकालिक सूत्र के विषय

इस सूत्र के दस अध्ययन और दो चूलिकाएं हैं। एक-एक अध्ययन की समग्र दृष्टि से, निर्युक्तिकार के मतानुसार, इसके विषय यों हैं—

'पहले अध्ययन में धर्म की प्रशंसा की गई है और धर्म का स्वरूप भी बताया गया है। दूसरे अध्ययन में यह बताया गया है कि उस धर्म का पालन परीषहों में धैर्य से ही किया जा सकता है। तीसरे अध्ययन में छोटी आचार कथा, जो कि आत्मा के लिए संयम का उपाय है, का विवेचन है। चौथे अध्ययन में छह प्रकार के जीवों में संयम रखने का विधि-विधान है। पांचवें अध्ययन में भिक्षा-विधि का समग्र विवेचन है। छट्ठे में साधु के आचार का विस्तृत विवरण है। सातवें अध्ययन में वाणी के विवेक का निरूपण है। आठवें

---

१. दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा, १५,१६।
२. दशवैकालिक निर्युक्ति, गा. १७।
३. नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गो त्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं।। (उत्तरा. २८।२)

अध्ययन में आचार में समाधि रखने का प्रकरण है। नौवें अध्ययन में विनय का और दसवें अध्ययन में साधु कौन? की समग्र परिभाषा है। पहली चूलिका में साधुपन से मन उचट जाने पर उसके स्थिरीकरण के उपायों का दिग्दर्शन है। दूसरी चूलिका में विविक्त चर्या का सुन्दर निरूपण है।'

हमने इस सूत्र को लगभग तीन सौ विषयों में बांटा हैं। एक-एक पद्य में कहीं-कहीं दो-दो विषय भी आ गए हैं। इस प्रकार उसके विस्तृत विषयीकरण से सूत्र की महत्ता पर सहज प्रकाश पड़ सकता है। उदाहरण के लिए प्रथम दो अध्ययनों के विषय यहां दिये जाते हैं।

पहला अध्ययन : द्रुमपुष्पिका (धर्मप्रशंसा और माधुकरी वृत्ति)

श्लोक : १. धर्म का माहात्म्य, धर्म का स्वरूप और धार्मिक का माहात्म्य।

श्लोक : २-५. माधुकरी वृत्ति।

दूसरा अध्ययन : श्रामण्यपूर्वक (संयम में धृति और उसकी साधना)

श्लोक : १. श्रामण्य और मदन काम।

२,३. त्यागी कौन?

४,५. काम-राग-निवारण, मनोनिग्रह के साधन।

६. मनोनिग्रह का चिन्तन सूत्र, अगन्धन-कुल के सर्प का उदाहरण।

७-९. रथनेमि को राजीमती का उपदेश, हटवृक्ष का उदाहरण।

१०. रथनेमि का संयम में पुनः स्थिरीकरण।

११. संबुद्ध का कर्त्तव्य।

एक बात

साधारणतया आज तक यह समझा जाता रहा है कि दशवैकालिक सूत्र सीधा और सरल है। इसका कारण यही था कि जैन सम्प्रदायों में शैक्ष के लिए यह प्रथम पठनीय सूत्र रहा है। प्रायः जैन मुनि दीक्षित होते ही इसे कंठस्थ करते हैं और कालान्तर में यही स्वाध्याय का विषय बना रहता है। परन्तु अभी-अभी आचार्यश्री के आदेश से मुनिश्री नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) ने इसका अनुवाद प्रारंभ किया। अनुवादकाल में मुनिश्री को यह कहते सुना—'ऐसे तो यह

सूत्र जैन मुनियों के लिए दाल-रोटी सा बना हुआ है। परन्तु इसके चिन्तन और मनन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह साधारण योग्य नहीं है। इसमें इतना संक्षेपीकरण है कि जब-तक आचारांग और निशीथ सूत्र का पूरा-पूरा अनुशीलन नहीं किया जाता तब तक इसके कई विषय बहुत अस्पष्ट रह जाते हैं। कई शब्दों का मूल अर्थ पकड़ा ही नहीं जाता।'

ये शब्द हमने उनके मुंह से कई बार सुने। हमें लगा—इतने बड़े विद्वान् मुनि, जिनका प्रतिक्षण चिन्तन और मनन में ही समय व्यतीत होता है, की भी इस साधारण सूत्र के प्रति यह धारणा है, तब हम जैसे विद्यार्थियों के लिए तो कहना ही क्या?

दशवैकालिक सूत्र के कुछ एक दुरूहस्थल

भगवान् महावीर के लगभग एक हजार वर्ष बाद देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के सत्प्रयत्न से आगमों का विद्यमान रूप स्थिर किया गया था। उसके बाद आज तक ऐसी कोई संगति नहीं हुई, जिससे पाठों की विविधता पर विचार किया गया हो। इसके अभाव में पाठ परिवर्तित हुए, अर्थ में विपर्यास हुआ और अन्यान्य ग्रंथों के श्लोक भी इसमें सम्मिलित हो गये। इसलिए यह सामयिक आवश्यकता है कि इस पर पूरा-पूरा विचार किया जाए और इस दिशा में कुछ कार्य किया जाए।

इन्हीं पहलुओं को छूने वाले कुछ उदाहरण विद्वानों के समक्ष रख कर इस ओर उनका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं। पाठ की दृष्टि से—दशवैकालिक की प्रतियों में छट्ठे अध्ययन का श्लोक—**'वयछक्कं'**, **'कायछक्कं'** उपलब्ध होता है और कई प्रतियों में नहीं। टीकाकार श्रीहरिभद्रसूरि ने 'निर्युक्तिकार आह' ऐसा कहकर इस श्लोक का उल्लेख किया है। दशवैकालिक सूत्र पर अगस्त्यसिंह मुनि की और जिनदास महत्तर की दो विश्रुत चूर्णियां हैं। उनमें भी इस श्लोक का उल्लेख हुआ है। अगस्त्यसिंह मुनि ने **'तेसिं विवरणत्थमिमा निज्जुत्ति'**[१]— ऐसा लिखकर इस श्लोक का उल्लेख किया है। एक प्राचीन आदर्श (प्रति) में **'इयं निर्युक्तिगाथा'** लिखकर यह गाथा दी है। संभवतः ऐसा हुआ है कि प्राचीन समय में 'निर्युक्तिकार आह' ऐसा लिखकर यह श्लोक दिया जाता रहा हो और धीरे-धीरे कालान्तर में 'निर्युक्तिकार आह' ये शब्द छूट गये हो और

१. अ.चू.पृ. १४४।

इस श्लोक को मूल सूत्र का श्लोक ही मान लिया गया हो। इसकी पुष्टि इस बात से भी हो जाती है कि यह श्लोक मूल निर्युक्ति में भी ज्यों का त्यों *मिलता है।*

सातवें अध्ययन में भी ऐसा ही कुछ हुआ है। मुनिश्री ने इसका समाधान यों किया है—अगस्त्यसिंह मुनि और जिनदास महत्तर की चूर्णियों में सातवें अध्ययन में आठवें, नवें और दसवें श्लोक की जगह दो ही श्लोक हैं और वे इन तीनों श्लोकों से भिन्न हैं। विषय-वर्णन की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं जान पड़ता, किन्तु शब्द-संकलना की दृष्टि से चूर्णि में व्याख्यात श्लोक गंभीर और प्रशस्त हैं। टीकाकार ने ये श्लोक कहां से लिए, यह अभी ज्ञात नहीं हो सका है। संभव है या तो टीकाकार के सामने चूर्णिकार से भिन्न परम्परा के आदर्श रहे हों या किसी दूसरे शास्त्र की सरल गाथाओं ने इनका स्थान पा लिया हो, कुछ भी हो यह बहुत ही विमर्शनीय-स्थल है।

इसी प्रकार वर्तमान में प्रचलित पाठ टीकाकार हरिभद्रसूरि द्वारा सम्मत पाठ अगस्त्यसिंह मुनि द्वारा सम्मत पाठों में विभिन्नता है। यह अभी तक अन्वेषण का विषय है कि टीकाकार चूर्णिकारों की कृतियों की क्यों उपेक्षा कर, स्वतंत्र रूप से चलते रहे। यह निर्विवाद है कि चूर्णियां टीकाओं से बहुत प्राचीन हैं। दशवैकालिक पर अगस्त्यसिंह मुनि की चूर्णि सबसे प्राचीन मानी जाती है। उनके द्वारा कृत चूर्णि में और टीकाकार के सम्मत पाठों में अत्यधिक अन्तर क्यों रहा है? यह आज भी प्रश्नवाचक चिह्न बना हुआ है। जहां-जहां टीकाकार और चूर्णिकार पाठ के विषय में एक मत नहीं है, उन पाठों का हमने संकलन किया है—परन्तु सारी सामग्री यहां पर प्रस्तुत की जाय, वह इस निबन्ध का विषय नहीं है। अतः संकेतमात्र दिया जाना ही संभव है।

२३. दशवैकालिक के अर्थ और ऐतिहासिक तथ्य

अर्थ की दृष्टि से

दशवैकालिक (५।१।६७) में उल्लिखित **'निस्सेणिं फलगं पीढं....'** यह श्लोक भी अर्थ की दृष्टि से विवादग्रस्त है। चूर्णिकार और टीकाकार का मतद्वैध स्पष्ट प्रतीत होता है। चूर्णिकार द्वारा किया गया अर्थ सही है, इसकी संगति आयारचूला के (१।८७वें) सूत्र से स्पष्ट प्रतीत होती है। मुनिश्री

नथमलजी ने इस पर टिप्पण लिखते हुए कहा है–

इस श्लोक में निश्रेणि, फलक, पीठ, मंच, कील और प्रासाद–इन छह शब्दों के अन्वय में चूर्णिकार व टीकाकार एक मत नहीं है। चूर्णिकार निश्रेणि, फलक और पीठ को आरोहण के साधन तथा मंच, कील और प्रासाद को आरोह्य स्थान मानते हैं–(**णिस्सेणी...आणेज्जा**–जि.चूर्णि, पृ.१८३)। टीकाकार पहले पांचों शब्दों को आरोहण के साधन और प्रासाद को आरोह्य स्थान मानते हैं–(**निश्रेणिं फलकं पीठम् 'उस्सवित्ता' उत्सृत्य ऊर्ध्वं कृत्वा इत्यर्थः, आरोहेत् मञ्चं कीलकं च उत्सृत्य कमोरोहेदित्याह–प्रासादम्–हा.टी.प. १७६**)।

आयारचूला के अनुसार चूर्णिकार का मत ठीक जान पड़ता हैं। वहां (१।८७वें) सूत्र में अन्तरिक्ष-स्थान पर रखा हुआ आहार लाया जाए उसे मालापहृत कहा गया है। वहां अंतरिक्ष-स्थानों के जो नाम गिनाए हैं उनमें–**'थंभंसिवा, मंचंसिवा, पासायंसि वा'**–ये तीन शब्द यहां उल्लेखनीय हैं। इन्हें आरोह्य स्थान माना गया है। (१।८७वें) सूत्र में आरोहण के साधन बतलाए हैं, उनमें **'पीढं वा, फलगं वा, निस्सेणिं वा'**–इनका उल्लेख किया गया है।

इन दोनों सूत्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि इन छह शब्दों में पहले तीन शब्द जिन पर चढ़ा जाए, उनका निर्देश करते हैं और अगले तीन शब्द चढ़ने के साधनों को बतलाते हैं। टीकाकार ने 'मंच' और 'कील' को पहले तीन शब्दों के साथ जोड़ा उसका कारण इनके आगे का 'च' शब्द जान पड़ता है।

इसी प्रकार **'नियाग'** शब्द भी बहुत विवादास्पद है। इसका उल्लेख तीसरे अध्ययन के दूसरे श्लोक में और छट्ठे अध्ययन के (४८वें) श्लोक में हुआ है। वर्तमान में **'नियाग'** शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है–आदरपूर्वक निमंत्रण दे, उसके घर से प्रतिदिन भिक्षा लेना **'नियाग'** **'नियतता'** या **निबंध** नाम का अनाचार है। अवचूरीकार ने टीकाकार का ही अनुसरण किया है। स्तबकों (टब्बों) में भी यही अर्थ रहा है। अर्थ की यह परम्परा छूटकर 'एक घर का आहार सदा नहीं लेना' यह परम्परा कब चली, इसका मूल साहित्य में नहीं, किन्तु परम्परा में ही ढूंढ़ा जा सकता है।

इस टिप्पण को मुनिश्री आगे ले गये हैं और निशीथ, आचारांग आदि के उद्धरणों से विषय को काफी स्पष्ट किया है। टिप्पण को और आगे बढ़ाते

हुए मुनिश्री ने लिखा है—पाणिनि ने प्रतिदिन नियमित रूप से दिए जाने वाले भोजन को **'नियुक्त भोजन'** कहा है—**'तदस्मै दीयते नियुक्तं'**[१] (४।४।४६)। इसके अनुसार जिस व्यक्ति को पहले भोजन दिया जाए वह 'आग्रभोजनिक' कहलाता है। इस सूत्र में पाणिनि ने अग्रपिण्ड की सामाजिक-परम्परा के अनुसार व्यक्तियों के नामकरण का निर्देश किया है। साधारण याचक स्वयं नियत भोजन लेने चले जाते थे। ब्राह्मण, पुरोहित और श्रमणों को आमंत्रण या निमंत्रण दिया जाता था। पुरोहितों के लिए निमंत्रण को अस्वीकार करना दोष माना जाता था। बौद्ध-भिक्षु निमंत्रण पाकर भोजन करने जाते थे। भगवान् महावीर ने निमंत्रणपूर्वक भिक्षा लेने का निषेध किया है।

इस प्रकार अर्थ की दृष्टि से भी दशवैकालिक सूत्र निरापद नहीं है। अर्थ करते समय सर्वांगीण ज्ञान की कितनी अपेक्षा रहती है—यह इन टिप्पणियों से स्पष्ट प्रतीत होता है।

इसी तरह **'दन्तपहोयण'**, **'दन्तवण'**, **'संपुच्छण'** आदि-आदि शब्द भी ध्यान देने योग्य हैं। सातवें अध्ययन का **'जं तु नामेइ सासयं'** (दशवै. ४) में **सासयं** शब्द का भी अर्थ ठीक नहीं हुआ है।

'सोरट्ठिय' (दशवै. ५।१।३४) शब्द का अर्थ भी गलत हुआ है। स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्य आत्मारामजी ने इसका अर्थ 'फिटकरी' किया है। परन्तु दशवैकालिक के उक्त प्रकरण में यह अर्थ ठीक नहीं लगता। क्योंकि प्रकरणगत श्लोकों में—सचित्त, हड़ताल, मैनसिल आदि से सने हुए हाथ, कड़छी या बर्तन से भोजन ग्रहण न करे—ऐसा उल्लेख है। फिटकरी स्वयं अचित्त होती है—वह एक रासायनिक पदार्थ है। इसलिए **'सोरट्ठिय'** का फिटकरी अर्थ उपयुक्त नहीं लगता। इसका अर्थ होना चाहिए—**'गोपीचन्दन**।'-(एक प्रकार की मिट्टी, जिसको रगड़कर तिलक आदि किए जाते हैं)—इस अर्थ को पुष्ट करने वाला प्रमाण हमें 'शालिग्रामनिघण्टु' में मिलता है।[२]

वहां भी उसका अर्थ गोपीचंदन ही किया गया है।

टीकाकार ने 'सोरट्ठिय' का अर्थ तुवरिका किया है। **'तुवरिका'** गोपीचन्दन का ही पर्यायवाची नाम है, यह टिप्पण के श्लोक से सिद्ध हो जाता है।

---

१. भिक्षुशब्दानुशासनम् : 'नियुक्तं दीयते' (७।२।७३)।

२. सौराष्ट्र्याढकी तुवरी, पर्पटी कालिका सती।
सुजाता देशभाषायां, गोपीचन्दनमुच्यते।। (शालिग्रामनिघण्टुभूषण, पृ. ५७२)

चूर्णिकार श्रीजिनदास महत्तर ने लिखा है—'**सोरट्ठिया तुवरिया, जीए सुवण्णकारा उप्पं करेंति सुवण्णस्स पिंडं**[१]।' सौराष्ट्रिका—तुवरिका जिससे स्वर्णकार सोने को आभा प्रदान करते हैं। इसी प्रकार निशीथ-भाष्य में भी सौराष्ट्रिका को तुवरिका कहा है। **सोरट्ठिया–'तुवरि मट्टिया भण्णति।'** (निशीथचूर्णिका, ४।३४)।

इन निदर्शनों से भी 'सोरट्ठिय' का गोपीचन्दन अर्थ शुद्ध है, ऐसा प्रतीत होता है।

दशवैकालिक के ऐतिहासिक तथ्य

साहित्य युग का प्रतिनिधि होता है। जिस काल, देश में साहित्य बनता है, वह उस काल, देश का दर्पण होता है। युग की सभी भावनाओं की स्फुट अभिव्यंजना उसमें मिलती है। आगम-साहित्य के बारे में भी यही बात है। जिस काल व क्षेत्र में इनकी संकलना हुई थी, उस सामयिक स्थिति का इनमें यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। आवश्यकता है कि उनकी उचित संकलना हो। प्रस्तुत निबन्ध में केवल दशवैकालिक के कई एक तथ्यों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किए देता हूं। पांचवें अध्ययन (१।५।४७-५४) में एक प्रकरण है कि साधु को **दानार्थ, पुण्यार्थ, वनीपकार्थ** और **श्रमणार्थ** बना हुआ आहार नहीं लेना चाहिए।

इन चारों शब्दों से भगवान् महावीर के समय की दान की कुछ परम्पराओं का ज्ञान प्राप्त होता है। उस समय ऐसी रीति प्रचलित रही हो कि जो कोई प्रवासी अपने देश लौटता, वह अपने सामर्थ्य के अनुसार लोगों को भोजन करवाता, बड़े-बड़े जीमनवार करता, भूखों को, अपाहिजों को भोजन, पानी, कपड़ा आदि देता। *यह सारा '**दानार्थ**' कहा जाता था।*

वनीपकार्थ का विस्तृत विवेचन स्थानांग सूत्र में मिलता है। वहां पांच प्रकार के 'वनीपक' गिनाये गये हैं—'**अतिहिवणीमगे, माहणवणीमगे, किविणवणीमगे, साणवणीमगे, समणवणीमगे**' (ठाणं ५।३।४५४)।

वनीपक का अर्थ करते हुए टीकाकार ने लिखा है—अपनी दीनता[२] दूसरों को दिखाने से तथा तदनुकूल दीन वाणी से जो मिलता है, उसे '**वनी**' कहते

१. जि. चू. पृ. १७९।

२. ***परेषामात्मदुःस्थत्वदर्शनेनाऽनुकूलभाषणतो यल्लभ्यते द्रव्यं सा 'वनी' तां पिबति–*** **आस्वादयति पातीति वेति वनीपः, स एव वनीपकः। (ठाणं, वृ. ५।२००)**

है और उस द्रव्य को लेने वाला या उसका आसेवन करने वाला **'वनीप'** *या* **'वनीपक'** कहलाता है। *अतिथि–दान की प्रशंसा कर याचना करने वाला* **'अतिथि वनीपक'**, अन्धे, लूले, लंगड़े या इसी प्रकार के अन्य लोगों को दान देना ही श्रेयस्कर है–ऐसा कहकर याचना करने वाले, **'किविण वनीपक'**, ब्राह्मणों को दिया हुआ दान ही फलप्रद होता है–ऐसा कहकर याचना करने वाले **'माहण वनीपक'**, कुत्ते आदि के माध्यम से याचना करने वाले **'श्व-वनीपक'** और इसी प्रकार **'श्रमण वनीपक'** कहलाते हैं।

उपरोक्त वर्णन से यह सहजतया ज्ञात हो जाता है कि उस समय में याचकों के कितने प्रकार थे। देश की स्थिति और लोगों की भावनाएं कैसी थीं आदि-आदि।

पांचवें अध्ययन की (दशवै. २।१४) गाथा में कहा गया है कि यदि गृहस्थ गोचराग्र प्रविष्ट साधु को **'उत्पल'** **'पद्‌म'** आदि को छेदकर देना चाहे तो साधु उसे ग्रहण नहीं करे। इस गाथा से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि उस समय में सामान्य रसोईघरों में भी कमल आदि का प्रयोग होता था। प्रयोग की *विधियां कौन-कौन-सी थीं–यह अन्वेषण का विषय है।* इससे तात्कालिक लोगों की रुचियों का भी सहज अध्ययन हो जाता है। इसी प्रकार आगे की गाथाओं में भी अनेक पदार्थों के नाम गिनाये गये हैं। यह उनसे पता चलता *है कि उस समय में कौन-कौन सी चीजें खाद्यरूप में विशेष काम आती थीं* और **'सूइयं वा असूइयं'** (दशवै. ५।१।९८)। इन शब्दों से भोजन को कैसे संस्कारित किया जाता था, इस पर काफी प्रकाश पड़ता है।**'तित्तगं'**–(दशवै. ५।१।९७) इस गाथा से लोगों की विभिन्न रुचियों का पता चलता है। कई लोग तिक्तभोजन के अभ्यासी थे और कई कटुक, आम्ल आदि भोजन को रुचिकर मानते थे। कई घरों में ये सारे भोजन, व्यक्ति की भिन्न-भिन्न रुचियों को संतुष्ट करने के लिए होते थे। इससे उनकी सम्पन्नता का पता चलता है।

इस प्रकार गहरे चिंतन और मनन से और भी तथ्य सामने लाये जा सकते हैं। आवश्यकता यह है कि प्रत्येक अन्वेषक इस सूत्र को छोटा या सरल न समझकर गम्भीरता व मननशीलता से पढ़े ताकि कुछ नवनीत सामने आ सके।

मैंने प्रारंभ में लिखा था कि दशवैकालिक सूत्र में कई स्थल बहुत ही संक्षिप्त हैं। उनका अर्थ अति दुरूह हो गया है। इसलिए शब्दों पर टिप्पणियां

आवश्यक हो जाती हैं। मुनिश्री नथमलजी ने विस्तृत टिप्पणियों से शब्दों की दुरूहता को दूर करने का प्रयास किया है। आप भी उनकी उपयोगिता को सहजरूप से समझ सके; इसलिए एक दो शब्दों की टिप्पणियों का, जो मुनिश्री ने लिखी हैं, उल्लेख कर देना अत्यावश्यक मानता हूं।

दंतपहोयणा और दंतवण का टिप्पण

'दंतपहोयणा' और दंतवण'—ये दो अनाचार हैं। चूर्णिकार 'अगस्त्यसिंह मुनि' और 'जिनदास महत्तर' ने **'दंतपहोयणा'** शब्द का अर्थ—दांतों को काष्ठ—लकड़ी, पानी आदि से पखालना किया है—**(दंतपहोयणं णाम दंताण कट्ठोदगादीहिं पक्खालणं–जि.चू. पृ. ११३)**।

अगस्त्यसिंह मुनि ने **'दंतवण'** का अर्थ—दांतों की विभूषा करना किया है—दंतमणं दसणाणं (विभूसा)—अ.चू. पृ. ६२। किन्तु जिनदास महत्तर ने इसे 'लोकप्रसिद्ध' कहकर छोड़ दिया है।

टीकाकार हरिभद्रसूरि ने **'दंतपहोयणा'** का अर्थ—दांतों का अंगुली आदि से प्रक्षालन किया है—**(दन्तप्रधावनं चांगुल्यादिना क्षालनम्)** और **दंतवण** का दन्तकाष्ठ—दन्तशोधन किया है। इस प्रकार चूर्णिकार और टीकाकार के अभिमत से **'दंतपहोयणा'** का अर्थ स्पष्ट है। किन्तु **'दंतवण'** का अर्थ स्पष्ट नहीं है।

अनाचारों की प्रायश्चित्त विधि 'निशीथ सूत्र' में मिलती है। वहां दांतों से संबंध रखने वाले तीन सूत्र हैं—

१. जे भिक्खू अप्पणो दंते आघंसेज्ज वा पघंसेज्ज वा।

२. जे भिक्खू अप्पणो दंते उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज वा।

३. जे भिक्खू अप्पणो दंते फूमेज्ज वा रएज्ज वा।[१]

भाष्यकार ने इसका अर्थ 'दांतों को अंगुली आदि से धोना बार-बार धोना, दांतों को दन्तकाष्ठ से घिसना, बार-बार घिसना और दांतों को रंगना' किया है।

निशीथ के तीन सूत्रों का अभिप्राय दशवैकालिक के 'दंतपहोयणा' और 'दंतवण'—इन दो शब्दों में बंधा हुआ है। दंतप्रक्षालन दंतपहोयणा से संबंधित है। 'दन्तशोधन' दंतौन आदि से दांतों को घिसना, बार-बार घिसना और दांतों को रंगना तथा दंतविभूषा की अन्य कोई क्रिया करना—ये सब दंतवण में गर्भित

१. नि. १५।१३१-३३।

किये गये हैं। आचार्य वट्टकेर न प्रक्षालन और घर्षण आदि सारी क्रियाओं का '**दंतमण**' शब्द से संग्रह किया हैं—**अंगुलिणहावलेहिणीकालीहिं, पासाणछल्लियादीहिं। 'दंतमलासोहणयं संजमगुत्ति अदंतमण।**' (मूलाचारमूलगणाधिकारः ३३)।

अंगुली, नख, अवलेखिनी (दंतौन), काली (तृणविशेष), पैनी, कंकणी, वृक्ष की छाल (वल्कल) आदि से दांतों के मैल को शुद्ध नहीं करना, यह इन्द्रिय- संयम की रक्षा करने वाला 'अदंतमन' मूल गुणव्रत हैं।

प्रो. अभ्यंकर ने '**दंतमण्ण**' का अर्थ—'दांतों को रंगना' (Painting The Teeth) किया है। यह मूलस्पर्शी अवश्य है पर पर्याप्त नहीं है।

एक-भक्त-भोजन

अगस्त्यसिंह मुनि ने 'एक-भक्त-भोजन' का अर्थ—'एक बार खाना अथवा राग-द्वेष रहित भाव से खाना किया है—'**एगवारं भोयणं एगस्स वा रागद्दोसरहियस्य भोयणं।**'[१] इस वाक्य-रचना में यह प्रश्न शेष रहता है कि एक बार कब खाया जाए? इस प्रश्न का समाधान दिवस शब्द का प्रयोग कर जिनदास महत्तर कर देते हैं—'**एगस्स रागदोसरहियस्य भोअणं अहवा इक्कवारं दिवसओ भोयणंति।**[२]' टीकाकार द्रव्य-भाव की योजना के साथ चूर्णिकार के मत का ही समर्थन करते हैं—'**द्रव्यत एकम्—एकसंख्यानुगतं, भावत एकं कर्मबन्धाभावादद्वितीयं तद्दिवस एव रागादिरहितस्य अन्यथा भावत एकत्वाभावादिति**'।[३] काल के दो विभाग हैं—दिन और रात। रात्रि-भोजन श्रमण के लिए सर्वथा निषिद्ध है। इसलिए इसे सतत तप कहा गया है। शेष रहा दिवस-भोजन। प्रश्न यह है कि दिवस-भोजन को एक-भक्त-भोजन माना जाए या दिन में एक बार खाने को? चूर्णिकार और टीकाकार के अभिमत से दिन में एक बार खाना एक-भक्त-भोजन है। आचार्य वट्टकेर ने भी इसका अर्थ यही किया है—

> **'उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि।**
> **एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु।।'**
>
> (मूलाचार—मूलगुणाधिकार ३५)

सूर्य के उदय और अस्तकाल की तीन घड़ी छोड़कर या मध्यकाल में एक मुहूर्त्त, दो मुहूर्त्त या तीन मुहूर्त्त काल में एक बार भोजन करना, यह एक-भक्त-मूल मूल-गुण है।

---

१. अ. चू. पृ. १४८।
२. जि. चू. पृ. २२२।
३. हा. टी. प. १९९।

स्कन्दपुराणकारकों का भी इसका यही अर्थ मान्य है–**'दिनार्द्धसमयेऽतीते, भुज्यते नियमेन यत्। एकभक्तमिति प्रोक्तं, रात्रौ तन्न कदाचन।'**

उत्तराध्ययन (२६।१२) के अनुसार सामान्यतः एक बार तीसरे पहर में भोजन करने का क्रम रहा है। पर यह विशेष प्रतिज्ञा रखने वाले श्रमणों के लिये था या सबके लिए, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु आगमों के कुछ अन्य स्थलों के अध्ययन से पता चलता है कि यह क्रम सबके लिए या सब स्थितियों में नहीं रहा है। जो निर्ग्रन्थ सूर्योदय से पहले आहार लेकर सूर्योदय के बाद उसे खाता है वह 'क्षेत्रातिक्रान्त' पान-भोजन[1] है। निशीथ (१०।३१-३९) के **'उग्गयवित्तीए** और **अणत्थमियमणसंकप्पे'**–इन दो शब्दों का फलित यह है कि भिक्षु का भोजनकाल सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त के बीच का कोई भी काल हो सकता है। यही आशय दशवैकालिक के निम्न श्लोक में मिलता है–

अत्थंगयम्मि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए।। (८/२८)

तात्पर्य यह है कि यदि केवल तीसरे पहर में ही भोजन करने का सार्वदिक विधान होता तो सूर्योदय या सूर्यास्त हुआ है या नहीं, ऐसी विचिकित्सा का प्रसंग ही नहीं आता और न 'क्षेत्रातिक्रान्त पान-भोजन' ही होता, पर ऐसी विचिकित्सा की स्थिति का भगवती, निशीथ और बृहत्कल्प (५।६) में उल्लेख हुआ है। इससे जान पड़ता है कि भिक्षुओं के भोजन का समय प्रातःकाल और सायंकाल ही रहा हैं। ओघ-निर्युक्ति में विशेष स्थिति में प्रातः, मध्याह्न, सायं–इन तीनों समयों में भोजन करने की अनुज्ञा मिलती है।[2] इस प्रकार 'एक-भक्त-भोजन' के सामान्यतः एक बार का भोजन और विशेष परिस्थिति में दिवस-भोजन–ये दोनों अर्थ मान्य रहे हैं।

इस प्रकार कुछ तथ्यों का निर्देश मैंने किया है। इन तथ्यों से दशवैकालिक सूत्र की शालीनता स्वतः सिद्ध हो जाती है। उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया है कि सूत्रपाठों में व अर्थ में कितनी गड़बड़ हुई है और

---

१. **गोयमा! जे णं निग्गंथो वा निग्गंथी वा फासुएसणिज्जं असणं.... अणुग्गए सूरिए पडिग्गाहित्ता उग्गए सूरिए आहारं आहारेति, एस णं गहणेसणा? खेत्तातिकंते पाणभोयणे। (भगवती ७।१ सू. २१)।**

२. **ओघनिर्युक्ति गाथा २५०, भाष्यगा. १४८-१४९।**

हो रही है। पाठ-निर्धारण की भी एक समस्या है। जितनी प्रतियां, उतने ही संशोधन......ऐसी दशा में एक पाठ का निर्धारण करना अति कठिन हो जाता है। इसी प्रकार अर्थ का समाधान भी सरल नहीं हैं। आवश्यकता है कि इस दिशा में कार्य करने वाले विद्वान् पूर्ण सजगता से कार्य करें और किसी निर्णय पर पहुंचने से पूर्व विषय के चारों ओर गहरी डुबकियां लें तभी वे कुछ नई चीज दे सकेंगे। अन्यथा पल्लवग्राही निर्णयों से कुछ नहीं बनेगा।

आचार्यश्री तुलसी के आदेशानुसार चलने वाला 'आगम-अन्वेषण का कार्य' काफी प्रगति कर चुका है। दशवैकालिक सूत्र का सांगोपांग अन्वेषण प्रायः समाप्ति पर है। अकारादि-अनुक्रमणिका, विषय-सूची, संस्कृत-छाया, तुलनात्मक टिप्पणियां, विषय को स्पष्ट करने वाले टिप्पण व कथानक, हिन्दी में अनुवाद, पाठ-संशोधन आदि कार्य समाप्त हो चुके हैं। भूमिका-लेखन का कार्य अवशिष्ट है, जो शीघ्र ही प्रारंभ कर दिया जाएगा।

आज तक दशवैकालिक के कई अनुवाद सामने आ चुके हैं। उनमें बहुत सी भूलें रह गई हैं। यह हो सकता है कि कार्य करने वालों ने अन्वेषण सामग्री के अभाव में उन पर ध्यान न दिया हो या प्रमाद व पूर्वाभिनिवेशवश उनसे त्रुटि हो गई हो।

२४. दशवैकालिक का पांचवां अध्ययन : एक दृष्टि

गाथा और श्लोक

व्यवहार में आगम के पद्यों को 'गाथा' कहा जाता है। यदि किसी से पूछा जाय कि दशवैकालिक सूत्र के कितने पद्य हैं तो उत्तर होगा कि सात सौ गाथाएं हैं। 'गाथा' एक छन्दविशेष का नाम है। समस्त पद्यों को इस शब्द द्वारा संग्रह करना उचित नहीं लगता। पद्यशब्द समस्त छन्दों का संग्राहक बन सकता है। अलग-अलग छन्दों का निरूपण एक साथ न करने के कारण पद्य कहकर उस छन्दोनिबद्ध सूत्र को ग्रहण करना उचित लगता है। यदि यह कह दिया जाय कि दशवैकालिक सूत्र में इतने पद्य हैं तो यह सही संकेत हो सकता है।

प्राकृत छन्दोनुशासन के अनुसार 'आर्या' को 'गाहा' कहा जाता है और अनुष्टुप् श्लोक को 'सिलोग' (श्लोक) कहते हैं। अनुसंधान से यह पता लगा है कि दशवैकालिक सूत्र में गाथाएं नहीं हैं। (दूसरी परम्परा के अनुसार कुछ

हैं) प्रायः छन्द श्लोक हैं और यत्र तत्र अन्य छन्दों का भी प्रयोग हुआ है। कौन-कौन से अध्ययन में कौन-कौन से छन्द प्रयुक्त हुए हैं? यह एक स्वतंत्र निबन्ध का विषय है। इस निबंध में केवल दशवैकालिक सूत्र के पांचवें अध्ययन पर अन्यान्य दृष्टियों से कुछ विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

प्रचलित मान्यता के आधार पर पांचवें अध्ययन के १५० पद्य माने जाते हैं। किन्तु चूर्णिकार और टीकाकार इसमें एकमत नहीं हैं। टीकाकार आचार्य हरिभद्रसूरि १५० पद्य स्वीकार करते हैं।

चूर्णिकार जिनदास महत्तर कुछ विशेष पद्यों को मानकर चलते हैं। प्रथम उद्देशक का तेतीसवां श्लोक **'एवं उदओल्ले'**—वे स्वीकार नहीं करते। इस श्लोक के शब्दों के अलग-अलग कई श्लोक बनते हैं—ऐसा उनकी चूर्णि से पता लगता है। यद्यपि इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है; परन्तु प्रयुक्त शब्द उसी ओर संकेत करते हैं। स्पष्टता के लिए चूर्णि का कुछ अंश प्रस्तुत किया जाता है—**'उदउल्लं' नाम जलतिंतं उदउल्लं, सेसं कंठं, एवं ससिणिद्धं नाम जं न गलइ, सेसं कंठं, ससरक्खेण ससरक्खं नाम पंसुरजगुंडियं, सेसं कंठं मट्टिया कडउमट्टिया चिक्खलो, सेसं कंठं, एतेण पगारेण सव्वत्थ भाणियव्वं।'**[१]

उपरोक्त अंश में **'सेसं कंठं'** शब्द ध्यान देने योग्य है। यदि पूर्वश्लोक **'पुरेकम्मेण हत्थेण'** की तरह **'उदउल्लेण हत्थेण.....'** पूरा श्लोक नहीं होता तो **'सेसं कंठं'** शब्द देने की कोई आवश्यकता नहीं होती। **'सेसं कंठं'** शब्द श्लोक के अन्य पूरक शब्दों की ओर संकेत करता है। इसलिए श्लोक ३३-३४ के प्रत्येक शब्द का एक-एक श्लोक बनता है। इस प्रकार सत्तरह श्लोक बन जाते हैं।

अगस्त्यसिंह मुनि ने भी श्लोक ३३-३४ के स्थान पर स्वतंत्ररूप से सत्तरह श्लोक माने हैं। सारे श्लोकों का पृथक्-पृथक् निर्देश किया है—यह तथ्य यों भी सही प्रतीत होता है कि पहले ये सारे श्लोक मान्य रहे हों और कालान्तर में उनका संक्षेपीकरण हुआ हो। यह कहना कठिन है कि संक्षेपीकरण कब हुआ? परन्तु मान्य श्लोकों के आधार पर 'एवं' शब्द भी उनकी पृथक् सत्ता की ओर संकेत करता है। अन्यथा **'एवं उदओल्ले'**—कहने की कोई आवश्यकता नहीं होती। श्लोक **'एवं'** से प्रारंभ होता है और **'चेव बोधव्वे'** में परिसमाप्त हो जाता है। इस प्रकार यह संग्राहक श्लोक प्रतीत होता है जो कुछ

१. जि. चूर्णि, पृ. १७९।

सुविधाओं के लिए प्रयुक्त किया गया हो।

वर्तमान आदर्शों में ६३वां श्लोक यों है—'**एवं उस्सक्किया, ओसक्किया, उज्जालिया, पज्जालिया, निव्वाविया। उस्सिंचिया निस्सिंचिया ओवत्तिया ओयारिया दए**'—परन्तु दोनों चूर्णिकार इससे सहमत नहीं हैं। प्रथम चूर्णिकार अगस्त्यसिंह मुनि के अनुसार इस स्थान पर स्वतंत्र रूप से नौ श्लोक हैं—

१. **असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा।**
अगिणिम्मि होज्ज निक्खित्तं तं च उस्सिक्किया दए।।

इसी प्रकार— २. .....**तं च ओसक्किया दए**
३. .....**तं च उज्जालिया दए**
४. .....**तं च विज्झाविया दए**
५. .....**तं च उस्सिंचिया दए**
६. .....**तं च उकड्ढिया दए**
७. .....**तं च निस्सिंचिया दए**
८. .....**तं च ओवत्तिया दए**
९. .....**तं च ओतारिता दए**

और '**उस्सिक्किया**' के श्लोक में '**तं भवे.....देंतियं पडियाइक्खे णिक्खित्ताधिकारिकमेव**' ऐसा माना है।

दूसरे चूर्णिकार जिनदास महत्तर ने स्वतंत्ररूप से सात श्लोक माने हैं—उन्होंने '**ओसक्किया**' और '**उस्सिंचिया**' को स्वीकार नहीं किया है। प्रत्येक श्लोक के अन्त में '**देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं**' को माना है।

टीकाकार हरिभद्रसूरि इसे एक ही श्लोक मानकर आगे चलते हैं। प्रचलित आदर्शों में '**होज्ज कट्ठं सिलं वा वि**' को प्रथम उद्देशक का ६५वां श्लोक माना है। परन्तु अगस्त्यसिंह मुनि ने छट्ठे श्लोक '**तम्हा तेण न गच्छेज्जा**' के आगे ही '**चलं कट्ठं सिलं वा वि**' को स्थान दिया है और दूसरी परम्परा का उल्लेख करते हुए लिखा है—'**अयं केसिंचि सिलोगो उवरिं भण्णिहिति**'—इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके सामने कोई अन्य आदर्श अवश्य रहा है जिसको कि उन्होंने आधार माना है। अगस्त्यसिंह मुनि द्वारा माना गया यह क्रम-आधार संगति की दृष्टि से सही लगता है। इस क्रम-व्यत्यय का संकेत टीकाकार या चूर्णिकार जिनदास महत्तर ने नहीं दिया है।

इस प्रकार ६६वें और ६९वें श्लोक के प्रथम दो-दो चरण (अ. चू.) में

नहीं हैं। श्लोक **'गंभीरं झुसिरं'** से प्रारंभ होते हैं और **'न पडिगेण्हंति संजया'** में तीन श्लोक समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार दो श्लोकों (६६वें-६९वें) के प्रथम दो चरण **'न तेण भिक्खू गच्छेज्जा दिट्ठो तत्थ असंजमो'** और **'एयारिसे महादोसे जाणिऊण महेसिणो'**—कम हो जाने के कारण एक श्लोक का अवसान हो जाता है।

पांचवें अध्ययन के दूसरे उद्देशक में भी श्लोकों का विपर्यास हुआ है। चूर्णिकार अगस्त्यसिंह मुनि और जिनदास महत्तर पाठों के विषय में एकमत हैं।

दोनों चूर्णिकार इस उद्देशक के दसवें और ग्यारहवें श्लोक के स्थान पर एक ही श्लोक मानते हैं—**'समणं माहणं वा वि किविणं वा वणीमगं। तं अइक्कमित्तु न पविसे न चिट्ठे चक्खु-गोयरे'** यह पाठ ठीक जान पड़ता हैं। दोनों श्लोकों के अंतिम दो-दो पाद कोई विशेष अर्थ नहीं रखते। इसी प्रकार चौदहवें और पन्द्रहवें श्लोक को द्व्यर्ध (दिवड्ढसिलोगो) माना है—

उप्पलं पउमं वा वि, कुमुयं वा मगदंतियं।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं, तं च संलुंचिया दए।
देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं।।

दोनों चूर्णिकार (५।१।४१, ४३वें) श्लोक के प्रथम दो-दो चरण **'तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं'** स्वीकार नहीं करते। अगस्त्यसिंह मुनि 'दिवड्ढ सिलोगो' लिखते हैं। जिनदास महत्तर कुछ भी उल्लेख नहीं करते।

इस प्रकार **'एवं तु अगुणप्पेही'** (५।२।४१) यह श्लोक भी दोनों चूर्णियों में नहीं है। केवल टीकाकार ही इन सबको मान्य करते हैं। चूर्णिकारों में तथा टीकाकारों में इतना मतभेद क्यों रहा, यह अन्वेषण का विषय है, विस्तार करने की परम्परा कब और क्यों चली? यह तर्कगत होते हुए भी विशेष चिन्तन की ओर प्रेरित करती है। साम्प्रतम् तो हम अनुमान-प्रमाण द्वारा ही इसका समाधान पा सकते हैं।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि तीनों मनीषी पांचवें अध्ययन की श्लोक-संख्या में एकमत नहीं है।

टीकाकार हरिभद्रसूरि ने पांचवें अध्ययन के १५० पद्य माने हैं। चूर्णिकार अगस्त्यसिंह मुनि १७३ पद्य स्वीकार करते हैं और द्वितीय चूर्णिकार जिनदास महत्तर ने स्पष्टरूप से १५२ पद्य माने हैं और प्रकारान्तर से १७३ पद्य मानते

हैं। सामान्य सूत्र के एक अध्ययन में इतना मतभेद अवश्य ही काल व्यवधान से विच्छिन्न परम्पराओं की अजानकारी की ओर संकेत करता है। अगस्त्यसिंह मुनि इसमें बहुत प्रामाणिक रहे हैं, ऐसा लगता है। कारण कि उन्होंने स्थान-स्थान पर अन्य परम्पराओं का भी उल्लेख किया है।

अर्थ की दृष्टि से पांचवां अध्ययन विवादग्रस्त है। कहीं-कहीं शब्दों का अर्थ पकड़ने में भी बहुत कठिनाइयां आती हैं। किसी शब्द का चूर्णिकार एक अर्थ करते हैं और टीकाकार दूसरा अर्थ करते हैं और वास्तव में उसका अर्थ कुछ और ही होता है। ऐसी अवस्था में पाठक असमंजस में पड़ जाता है। एक ओर वह प्राचीन महर्षियों व विद्वानों की प्रामाणिकता को सहसा अमान्य नहीं कर सकता और दूसरी ओर उसकी मनीषा उस अर्थ को स्वीकार भी नहीं कर सकती। ऐसी अवस्था में चिन्तन अग्रसर होता है और किसी एक निष्कर्ष पर पहुंच जाता है।

कई दिनों से हम आचार्यप्रवर के पास दशवैकालिक सूत्र के पारिभाषिक शब्दों की सूची तैयार कर रहे थे। आचार्यप्रवर अपनी बहुश्रुतता से हमें निर्देश दे रहे थे।

एक दिन मुनिश्री नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) चरक, सुश्रुत आदि ग्रंथ लेकर आए। वन्दनकर आचार्यप्रवर से निवेदन किया कि मूल आगमकार को किसी शब्द का कोई अर्थ अभिलषित रहा है और काल के व्यवधान से, परम्पराओं की एकता के अभाव में सही अर्थ को पकड़ने में बड़ी कठिनाई रही है। चूर्णिकार सही अर्थ पकड़ने में समर्थ हुए भी हैं; परन्तु कहीं-कहीं उन्हें भी सन्देह होता रहा है। ऐसे सन्देह-स्थलों में उन्होंने कई अर्थों को विकल्प में रखकर न्याय ही किया है ताकि अगली पीढ़ी के लिए सोचने-समझने का द्वार खुला रह सके। ज्यों-ज्यों काल बीता, त्यों-त्यों अन्य ग्रंथों से सम्पर्क छूट-सा गया और मौलिक अर्थ पकड़ना बहुत कठिन होने लगा। यह कठिनाई टीकाकारों के सामने भी रही है। उनके उत्तरवर्ती विद्वानों ने तो कहीं-कहीं शब्द के मूल को न समझने के कारण बड़ा अनर्थ किया है। यह भूल उत्तरवर्ती साहित्य में खप गई—इसका मूल कारण था एतद्विषयक साहित्य के अध्ययन के प्रति उदासीनता। चरक, सुश्रुत आदि ग्रंथों में भी जैन-शब्दों को समझने की विशिष्ट सामग्री मिलती रही है, इसलिए उनका अध्ययन भी अपेक्षित हो जाता है।

आचार्यश्री ने कहा—उत्तरवर्ती आचार्यों और विद्वानों में बहुश्रुतता नहीं रही। यही कारण था कि अर्थों में विपर्यास हुआ और शब्द की भावना बदल गई। बहुश्रुतता का संबंध केवल आगम-अध्ययन से ही नहीं है—अन्यान्य ग्रंथों का जब तक सांगोपांग अध्ययन नहीं हो जाता, तब तक बहुश्रुतता नहीं आती। यही कारण था कि कई एक विशिष्ट टीकाकार ज्योतिष, व्याकरण, काव्य, अलंकार, चिकित्सा-शास्त्र आदि का पूरा अध्ययन करते थे। परन्तु आजकल ऐसा कहां होता है?

प्रथम उद्देशक के सोलहवें श्लोक में **'रहस्सारक्खियाण य'** ऐसा शब्द है। चूर्णिकार अगस्त्यसिंह मुनि इसको एक शब्द मानकर, इसका अर्थ **'रायंतेपुरवरा अमात्यादयो'** करते हैं।

अंतःपुर के अमात्य को **'रहस्स आरक्षिक'** कहा जाता था। उस जमाने में अनेक प्रकार के अमात्य होते थे, यह अशोक के शिलालेखों से ज्ञात होता है। धर्म अमात्य, सेना अमात्य, अन्तःपुर अमात्य आदि। इस श्लोक में **'अन्तःपुर अमात्य'**—यह अर्थ अभीप्सित है और यह सही है। परन्तु दूसरे चूर्णिकार जिनदास महत्तर ने **'रहस्स'** शब्द को सभी शब्दों के साथ जोड़ा है—**'रण्णो रहस्सट्ठाणाणि गिहवईणं रहस्सट्ठाणाणि, आरक्खियाणं रहस्सट्ठाणाणि... रहस्सट्ठाणाणि नाम गुज्झोवरगा, जत्थ वा राहस्सियं मंतेंति'**[१]—इससे पूरे श्लोक का कुछ भिन्न अर्थ ही अभिव्यञ्जित होता है।

टीकाकार हरिभद्रसूरि ने **'आरक्षकाणां च' दण्डनायकादीनां 'रहःस्थानं' गुह्यापवरकमन्त्रगृहादि'**[२]—ऐसा माना है। जिनदास महत्तर और हरिभद्रसूरि इस विषय में एकमत प्रतीत होते हैं। परन्तु अर्थसंगति की दृष्टि से अगस्त्यसिंह मुनि का अर्थ ठीक जान पड़ता है।

एक विभक्ति के विपर्यास से अर्थ में कितना अन्तर आ जाता है—यह मुनिश्री नथमलजी द्वारा लिखित एक टिप्पण से स्पष्ट हो जाता है। टिप्पण यों हैं—(५।२।२९) में **'वंदमाणं न जाएज्जा'** ऐसा पाठ है। **'वंदमाणं'**—द्वितीया विभक्ति का एक वचन और दाता का विशेषण है। इसका अर्थ होता है—'वंदना करने वाला'। दोनों चूर्णिकार और टीकाकार ने इसी पाठ को मुख्य मानकर अर्थ किया है और पाठान्तर में **'वंदमाणो न जाएज्जा'** ऐसा पाठ दिया है—**'अहवा एस**

१. जि. चू. पृ. १७४।
२. हा. टी. प. १६६।

आलावओ एवं पढिज्जइ–'वंदमाणो न जाएज्जा'। अर्थ-संगति की दृष्टि से पाठान्तर वाला पाठ उचित लगता है। हमने इसी पाठ को मान्य किया है।

'वंदमाणो न जाएज्जा', **'वंदमाणो'** शब्द श्रमण का विशेषण और प्रथमा विभक्ति का एक वचन है। इसका अर्थ होता है 'वंदना करता हुआ याचना न करे'। *आचारांग चूला* (१।६२) में भी इसी अर्थ का द्योतक पाठ है–**'णो गाहावइं वंदिय-वंदिय जाएज्जा नो वयणं फरुसं वएज्जा'**–भिक्षु गृहस्थ की वन्दना-स्तुति करके याचना न करे और न मिलने पर कठोर वचन न बोले। वृत्तिकार शीलांकसूरि ने भी इसका यही अर्थ किया है–**गृहपतिं 'वन्दित्वा' वाग्भिः स्तुत्वा प्रशस्य नो याचेत।' (आ. चू. १।६२ वृ.)**

निशीथ सूत्र में पूर्व संस्तव और पश्चात् संस्तव करने वाले को प्रायश्चित आता है–ऐसा लिखा है–**'जे भिक्खू पुरेसंथवं वा पच्छासंथवं वा करेति, करेंतं वा सातिज्जति।'**[१] इसी को स्पष्ट करते हुए निशीथ के चूर्णिकार ने लिखा है–**'संथवो थुती अदत्ते दाणे पुव्वसंथवो, दिण्णे पच्छासंथवो। जो तं करेति सातिज्जति वा तस्स मासलहुं।'**[२] यह पूर्व-पश्चात् संस्तव उत्पादन का ग्यारहवां दोष है और प्रस्तुत श्लोक में उसी का निषेध किया गया है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्दों का अर्थ करते समय किस प्रकार अन्यान्य स्थलों की अपेक्षा रहती है। एक दूसरे स्थलों पर पूरा ध्यान दिए बिना ठीक अर्थ पकड़ा नहीं जाता। इसी प्रकार कई ऐसे शब्द हैं, जिनका अर्थ अन्य ग्रंथों की सहायता के बिना नहीं किया जा सकता।

लिपिभेद से भी पाठों में अन्तर आया है। लिखावट की अस्पष्टता के कारण किस प्रकार काल के व्यवधान से मूल शब्दों में अन्तर आया है, यह मुनिश्री नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) ने भूमिका में स्पष्ट किया है। उदाहरणस्वरूप उसका एक अंश यहां दिया जाता है–कालक्रम से लिपिभेद भी *आया है। पूर्ववर्ती लिपि को पढ़ना उत्तरवर्तियों के लिए कठिन हो जाता है।* इससे भी बहुत-सी अशुद्धियां बनी हैं। जैसे प्राचीन प्रतियों में **'एडेति'**[३] पाठ है, वह उत्तरवर्ती प्रतियों में 'पडेति' बन गया। इसी प्रकार प्राचीन प्रतियों में **'संथडिए'**[४], **'चीणंसुय'**[५], **'मंतं'**[६], **जोगं'**[७] आदि पाठ हैं। वे उत्तरवर्त्ती प्रतियों में क्रमशः **'संघडिए'** **'वीणंसुय'** और **'महंतं'** बन गए......। इसके अतिरिक्त

---

१. निशीथ, उद्देशक २, सू. ३७।
२. निशीथ चूर्णि २।३७।
३. निशीथ, उद्देशक ३, सू. ८०।
४. निशीथ, उद्देशक, १०, सू. २५,२६।
५. निशीथ, उद्देशक, ७ सू. १०-१२।
६. निशीथ, उद्देशक, १३ सू. २६।
७. निशीथ, उद्देशक, १३ सू. २७।

प्राचीन प्रतियों में '**ओ**' '**उ**' '**स**' '**म**' '**भी**' बहुत समान रूप से लिखा जाता था। इसलिए उत्तरवर्त्ती प्रतियों में बहुत से स्थलों में '**ओ**' के स्थान में '**उ**' और '**स**' के स्थान में '**म**' भी मिलता है।

यह कटु सत्य है कि जैनाचार्यों ने अन्यान्य रचनाओं द्वारा भारतीय वाङ्मय को समृद्ध बनाने में पूर्ण योग दिया है। परन्तु आगम-साहित्य के प्रति उन्होंने उतने उत्साह से काम नहीं किया, जितना करना चाहिए था। यही कारण है कि आज भी आगम-साहित्य अस्त-व्यस्त पड़ा है। पाठों की अव्यवस्था को देखकर तो बहुत ही दुःख होता है। यह सामयिक आवश्यकता है कि इस ओर ध्यान दिया जाय और उचित प्रयत्नों द्वारा पाठों को व्यवस्थित किया जाए।

आचार्यश्री तुलसी इतने व्यस्त रहते हुए भी प्रतिदिन तीन-चार घंटे पाठ को व्यवस्थित करने और अन्यान्य तथ्यों के अन्वेषण में लगाते हैं और अपने बहुमूल्य निर्देशों द्वारा आगम कार्यकर्त्ताओं को दिशा-सूचन करते रहते हैं। उन्हीं की संरक्षणता में सारा कार्य चल रहा है। मुनिश्री नथमलजी भी अपना सारा श्रम आगम-कार्य के लिए ही लगाते हैं। रात्रि में आचार्यप्रवर के पास चिन्तन चलता है और उसी चिन्तन के अनुसार सारा कार्य समुचित रूप से चलता रहता है। आचार्यप्रवर तथा मुनि नथमलजी के अनवरत चिन्तन, मनन और निदिध्यासन से आगम-विषयक एक अभूतपूर्व कार्य होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। आचार्यश्री का कुशल नेतृत्व और मुनिश्री का सतत प्रवाही चिन्तन कुछ नए तथ्यों को प्रकाश में लाएगा, ऐसा विश्वास है।

२५. दशवैकालिक में भिक्षु के लक्षण

१. जो बुद्ध-तीर्थंकरों की आज्ञानुसार निष्क्रमण कर—दीक्षा ले संयम में सदा समाधि चित्त वाला होता है, स्त्रियों के वशीभूत नहीं होता, वमन किये हुए—छोड़े हुए कामभोगों की इच्छा नहीं करता, वह भिक्षु है।

२. जो पृथ्वी को न खोदता है और न खुदवाता है, शीत-उदक—सचित्त पानी न पीता है और न पिलाता है, अग्नि, जो तीक्ष्णशस्त्र है, को न जलाता है और न जलवाता है, वह भिक्षु है।

३. जो न पंखे से हवा लेता है और न दूसरों के लिए पंखा झलता है, वनस्पति का छेदन न करता है और न करवाता है, बीजों को सदा वर्जता हुआ सचित्त आहार नहीं करता, वह भिक्षु है।

४. औदेशिक आहार पृथ्वी-तृण-काष्ठ आदि के आश्रित जीवों के वध का कारण है—ऐसा जानकर जो औदेशिक आहार नहीं करता, जो न पकाता है और न पकवाता है, वह भिक्षु है।

५. जो ज्ञातपुत्र के वचनों में रत है, षट्जीवनिकायों को आत्म-तुल्य समझता है, पंच महाव्रतों का स्पर्श—पालन करता है, पंचाश्रवों का संवरण करता है, वह भिक्षु है।

६. जो कषाय-चतुष्टय का सदा परित्याग करता है, बुद्ध-तीर्थंकरों के वचनों में ध्रुवयोगी—स्थिर निष्ठा वाला होता है, जो किसी प्रकार का परिग्रह नहीं रखता और गृहस्थों के साथ योग-परिचय—स्नेह का सदा वर्जन करता है, वह भिक्षु है।

७. जो सम्यग्दृष्टि है, सदा अमूढ़—गृहस्थों के कार्यों में अमूर्च्छित है, ज्ञान-तप और संयम में विश्वास करने वाला है, जो तपस्या के द्वारा पुराने पाप-कर्मों को धुन डालता है—नष्ट कर देता है, मन-वचन और काया को संवृत्त रखने वाला है, वह भिक्षु है।

८. जो विविध प्रकार के अशन-पान-खादिम-स्वादिम को पाकर अगले दिन के लिए संचय नहीं करता और न संचय करवाता है, वह भिक्षु है।

९. जो विविध प्रकार के अशन-पान-खादिम-स्वादिम को पाकर अपने सहधर्मी साधुओं को बुलाकर खाता है और आहार (भोजन) कर स्वाध्याय में रत रहता है, वह भिक्षु है।

१०. जो कलह उत्पन्न करने वाली कथा नहीं कहता, क्रोध नहीं करता, इन्द्रियों को सदा वश में रखता है, उपशान्त है, संयम में निश्चल मन वाला है, दुःख में आकुल-व्याकुल नहीं होता और जो दूसरों का तिरस्कार नहीं करता, वह भिक्षु है।

११. जो इन्द्रियों के विषयों में आसक्त नहीं बनता, आक्रोश-प्रहार और तर्जना को सहन करता है, भयंकर शब्द व अट्टहासों से घबराता नहीं, सुख-दुःख को समभाव से सहन करता है, वह भिक्षु है।

१२. जो भिक्षु-प्रतिमा को धारण कर श्मशान में जाता है, परन्तु घोर या भयंकर शब्द सुनकर या रूप देखकर डरता नहीं, जो विविध गुणरूप तपस्या में सदा रक्त रहता है, जो अपने शरीर की भी अभिलाषा (परवाह) नहीं रखता, वह भिक्षु है।

१३. जो मुनि सदा त्यक्त-देह है, आक्रोश किये जाने—पीटे जाने या

घायल किये जाने पर भी पृथ्वी के समान क्षमाशील होता है, जो निदान—फल की कामना नहीं करता तथा कौतूहल—नाच, गान आदि में उत्सुकता नहीं रखता, वह भिक्षु है।

१४. जो अपने शरीर से परीषहों को जीतकर जातिपथ—जन्ममरण से अपनी आत्मा का उद्धार कर लेता है, जन्म-मरण को महाभयंकर जानकर संयम और तप में रत रहता है, वह भिक्षु है।

१५. जो हाथ-पैर-वाणी और इन्द्रियों से संयत है, अध्यात्म में रत है, आत्मा से सुसमाधिस्थ है और जो सूत्रार्थ को यथार्थ जानता है, वह भिक्षु है।

१६. जो उपकरणों में अमूर्च्छित है, अगृद्ध है, अज्ञातोंछ—प्रत्येक घर से थोड़ा-थोड़ा लेने वाला है, क्रय-विक्रय या संचय से विरक्त है और जो सर्व प्रकार के स्नेह-संबंधों से रहित है, वह भिक्षु है।

१७. जो अलोलुप है, रसों में गृद्ध नहीं बनता, आवश्यकतानुसार थोड़ा-थोड़ा ग्रहण कर अपना जीवन चलाता है, असंयम जीवितव्य की वांछा नहीं करता, ऋद्धि-सत्कार और पूजा की कामना नहीं करता—उनको त्याग देता है, जो आत्मस्थ है, माया रहित है, वह भिक्षु है।

१८. जो 'वह कुशील है' ऐसा नहीं कहता, दूसरा क्रोध करे ऐसी वाणी नहीं बोलता, पुण्य-पाप व्यक्ति-व्यक्ति के हैं—यह जानकर आत्मोत्कर्ष नहीं करता, वह भिक्षु है।

१९. जो जाति-रूप-लाभ और ज्ञान का मद नहीं करता, सब मदों को वर्ज कर जो धर्म-ध्यान में सदा तल्लीन रहता है, वह साधु है।

२०. जो मुनि आर्यपद—तीर्थंकर के मार्ग का उपदेश करता है, स्वयं धर्म में स्थित हो दूसरों को भी धर्म में स्थापित करता है, जो प्रव्रज्या ग्रहण कर कुशीललिंग—पाखंड वेष का वर्जन करता है, हंसी-मजाक नहीं करता, माया नहीं करता, वह भिक्षु है।

२१. जो मुनि इस प्रकार सदा आत्मा में स्थित हो, इस देहवास-जीवन को मलीन व अशाश्वत जानकर इसका त्याग करता है वह जाति-मरण—जन्ममरण के बंधन को तोड़कर अपुनरागम—मोक्ष को प्राप्त होता है।[1]

१. दशवै. १०।१-२१।

२६. परम्पराओं के वाहक कुछ शब्द और उनकी मीमांसा

हम मनुष्य हैं। हमारी अभिव्यक्ति का सक्षम माध्यम है भाषा। शब्दों की संहति भाषा है। शब्दों के अनन्त पर्याय हैं। अतः वे अनन्त अर्थों को अभिव्यक्त करने में समर्थ होते हैं। शब्दों का अपने आपमें कोई अर्थ नहीं है। जब उनमें अर्थ का आरोपण किया जाता है, तब वे अभिव्यक्ति के घटक बनते हैं। अर्थारोपण की इयत्ता अपनी-अपनी है, परन्तु जब वे अनेकशः एक ही अर्थ में प्रचलित हो जाते हैं तब वे रूढ़ बन जाते हैं। यह रूढ़ता सार्वकालिक नहीं होती, क्योंकि अर्थ का उत्कर्ष या अपकर्ष होता रहता है।

'भाषा एक प्रकार का चिह्न है। चिह्न से तात्पर्य उन प्रतीकों से हैं, जिनके द्वारा मनुष्य अपना विचार दूसरों पर प्रकट करता है। ये प्रतीक भी कई प्रकार के होते है, जैसे—नेत्रग्राह्य, श्रोत्रग्राह्य एवं स्पर्शग्राह्य। वस्तुतः भाषा की दृष्टि से श्रोत्रग्राह्य प्रतीक ही सर्वश्रेष्ठ है।'

हमारे पास शब्दों के अतिरिक्त अभिव्यक्ति का कोई साधन नहीं है। यह साधन पूर्ण नहीं, यह भी हम जानते हैं, परन्तु उसका सहारा हमें लेना पड़ता है। जितना हम कहना चाहते हैं, वह शब्दों से अभिव्यक्त नहीं होता। अतः कहीं-कहीं शब्द अनर्थ भी पैदा कर देते हैं।

यह बाधा होते हुए भी हमारा सारा पारस्परिक व्यवहार इसी पर आश्रित है।

कई शब्द ऐसे हैं, जिनसे केवल सामान्य अर्थबोध ही होता है और कई शब्द महत्त्वपूर्ण परम्पराओं के संवाहक होते हैं। प्रयोगकाल में वे परम्पराएं प्रचलित होती हैं, अतः तत्-तत् शब्दों से वे अभिव्यक्त की जाती हैं। किन्तु कालान्तर में अनेक कारणों से मूल अर्थ-बोध लुप्त हो जाता है और परम्परा को वहन करने वाले शब्द भी केवल सामान्य अर्थ के वाचक मात्र रह जाते हैं। इस शब्दगत समस्या का यह इतिहास अति प्राचीन है। इसका समाधान शक्य नहीं है। इसीलिए शब्दों से अनेक-अनेक विवाद उत्पन्न होते हैं और बढ़ते-बढ़ते नए-नए दर्शनों का भी उद्भव हो जाता है।

मेरे प्रस्तुत निबन्ध का विषय कुछ एक शब्दों की ओर इंगित करना मात्र है, जो विशेष परम्पराओं के बोधक रहे हैं और आज उनकी गरिमा को व्याख्या-ग्रन्थों की अर्थ-परम्परा से ही जाना जा सकता है।

१. मज्झिमेणं वयसा[1]

आचारांग के आठवें अध्ययन के तीसरे उद्देशक का प्रथम सूत्र है—'**मज्झिमेणं वयसा एगे, संबुज्झमाणा समुट्ठिता**'—कुछ व्यक्ति मध्यम वय में भी संबुध्यमान होकर संयम के लिए उत्थित होते हैं। यहां '**मध्यम वय**' शब्द एक विशेष परम्परा या सिद्धांत का द्योतक है।

भगवान् महावीर का दर्शन सार्वकालिक, सार्वदेशिक और सार्वजनिक था। उसमें काल, वय, व्यक्ति या क्षेत्रकृत बाधाएं नहीं थीं।

इसके विपरीत अन्य दर्शनों में धर्म-प्रज्ञप्ति के लिए वय का निर्धारण मान्य था। उनमें चार आश्रमों की मान्यता बहु-प्रचलित थी। संन्यास चौथे आश्रम में ही लिया जा सकता है—यह उद्घोष सुनाई देता था। इस इयत्ता ने धर्म-प्रज्ञप्ति में अनेक संकट उत्पन्न किए।

भगवान् महावीर ने कहा—'**जामा तिण्णि उदाहिया**'[2]—अवस्थाएं तीन हैं—प्रथम, मध्यम और पश्चिम। प्रथम अवस्था का कालमान नौ वर्ष से तीस वर्ष तक, मध्यम का तीस से साठ वर्ष तक तथा तृतीय वय का कालमान साठ से ऊपर है। इन तीनों अवस्थाओं में धर्माचरण हो सकता है, सम्बोधि प्राप्त हो सकती है—यह भगवान् महावीर का क्रान्तिकारी निर्देश था।

'**मज्झिम वय**'—इससे यह स्पष्ट प्रतिपादित किया गया है कि धर्म-जागरण के लिए यद्यपि अवस्था का कोई प्रतिबंध नहीं है, फिर भी '**मध्यम वय**' प्रव्रज्या के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। क्योंकि प्रायः तीर्थंकर, गणधर आदि इसी वय में प्रव्रजित होते हैं तथा इस वय तक व्यक्ति अनेक भोगों को भोग भुक्त-भोगी हो भोगों के कटु परिणामों से सुपरिचित हो जाता है और उनके प्रति जो आकर्षण होता है, वह मिट जाता है। दूसरी बात है कि उसके मन के सभी कुतूहल शान्त हो जाते हैं और वह सुखपूर्वक विराग-मार्ग पर स्थित रह सकता है। उसका विज्ञान भी पटुतर होता है और अनुभव की परिपक्वता से वह दुरनुचर तथा घोर मार्ग का भी निष्ठा से आचरण कर सकता है।

उपरोक्त कथन को हमें आगमकालीन परिस्थिति में पढ़ना चाहिए। आज की सामाजिक स्थिति में चाहे वह कुछ अपर्याप्त भी मालूम पड़े, फिर भी उसमें अन्तर्निहित सत्य को नहीं नकारा जा सकता।

---

१. आचारांग, ८।३।३०। २. आचारांग, ८।१।१५।

२. विहमाइए[१]

आचारांग का यह प्रयोग विशेष परम्परा का संवाहक है। जब मुनि शीत-स्पर्श सहने में अपने आपको असमर्थ माने, तब वह उस विशेष स्थिति में वैहायस—मरण, फांसी आदि के द्वारा प्राण-त्याग दे। यह उल्लेख पाठक को 'आत्महत्या' को मानने के लिए बाध्य करता है।

जैन आचारवाद 'आत्महत्या' को जघन्यतम पाप मानता है किन्तु संयम-रक्षा के लिए शरीर-त्याग की अनुमति भी देता है। यह निम्नोक्त तथ्य से विदित हो जाता है।

एक बार एक व्यक्ति अपनी नवोढ़ा पत्नी को छोड़कर प्रव्रजित हुआ। कुछ वर्ष बीते। ग्रामानुग्राम विहरण करते-करते वह भिक्षु उसी ग्राम में आ पहुंचा। घरवालों ने उसे भिक्षा के लिए आमंत्रित किया। वह भिक्षा लेने गया। घरवालों के मन में मोह का ज्वार बढ़ा। ममत्व की ऊर्मियों से वे सब पराभूत हो गए। नवोढ़ा पत्नी का मन आसक्ति से भर गया। पूर्वाचरित भोगों की स्मृति ने उसे विह्वल बना डाला। भिक्षा देने के बहाने वह मुनि को एक कमरे में ले गई और कपाट बंद कर दिए। पत्नी ने भोग की प्रार्थना की। मुनि ने अपने श्रामण्य की अखण्डता का प्रतिपादन किया। स्त्री नहीं मानी और मुनि को विवश करने लगी। वहां से भाग निकलने के सारे द्वार बंद थे। मुनि असहाय था। उसने कहा—यदि तू अपने विचार नहीं बदलेगी तो मैं प्राण दे दूंगा, ऊपर से नीचे गिरकर मर जाऊंगा। स्त्री अपने कथन पर दृढ़ थी। तब मुनि अपने संयम की रक्षा के लिए प्रासाद तल से गिरकर मर गया। भगवान् ने कहा—ऐसी स्थिति में इस प्रकार प्राणों का विसर्जन कर देना अनुज्ञात है, सम्मत है। किन्तु हर एक स्थिति में ऐसा करना अनुज्ञात नहीं है।

इस तथ्य से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि एकमात्र संयम की सुरक्षा के लिए जब अन्यान्य उपायों का अवकाश न हो, तब वैहायस—मरण, फांसी आदि साधनों द्वारा प्राण-त्याग करना काल-पर्याय है, अन्यथा नहीं। यह विवशता की स्थिति है।

३. संतरुत्तरे[२]

यह दो शब्दों के योग से बना है—सान्तर और उत्तर। यह दो वस्त्रों का

१. आचारांग, ८।४।५८।
२. आचारांग, ८।४।५१।

वाचक है—अन्तरीय वस्त्र और उत्तरीय वस्त्र। इसका दूसरा अर्थ है—'**सान्तर**'—सूत का कपड़ा तथा '**उत्तर**'—ऊन का कपड़ा। जो त्रिवस्त्रधारी भिक्षु है, वह हेमन्त के अतिक्रान्त होने पर, ग्रीष्म के आने पर जीर्ण वस्त्रों का परिष्ठापन कर दे। यदि सारे वस्त्र जीर्ण न हुए हों तो जो जीर्ण हो गए हैं, उन्हें छोड़ दे और स्वयं निस्संग होकर विहरण करे। यदि शिशिर के अतिक्रान्त होने पर भी क्षेत्र, काल या अन्य प्राकृतिक कारणों से पुनः शीत के प्रकोप की आशंका हो तो वह '**सान्तरुत्तर**' हो जाए। अर्थात् वह एक वस्त्र ओढ़े और एक पास में रख दे। यह टीकाकार का अभिमत है। चूर्णिकार ने दोनों कपड़ों को काम में लेने की बात '**सान्तरुत्तर**' में गृहीत की है।

उत्तराध्ययन के '**केशिगोयमीय**' अध्ययन में अचेल और 'सान्तरुत्तर' धर्म की चर्चा हुई है।[१] जब पार्श्व और महावीर की परम्परा के निर्ग्रन्थ एक-दूसरे को देखते हैं, तब उनके मन में यह विचिकित्सा उत्पन्न होती है।

भगवान् महावीर के शिष्य सोचते हैं—हमारा धर्म अचेल है और इन पार्श्व के श्रमणों का धर्म सान्तरुत्तर है। एक ही लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रवृत्त दोनों के धर्म में इतना अन्तर क्यों है?

कल्पसूत्र, चूर्णिकार और टिप्पणकार 'अन्तर' शब्द के तीन अर्थ करते हैं—सूतीवस्त्र, रजोहरण और पात्र तथा 'उत्तर' शब्द के दो अर्थ होते हैं—कम्बल और ऊपर ओढ़ने का उत्तरीय वस्त्र।

प्राचीन काल में वर्षा के समय भीतर सूती कपड़ा और ऊपर ऊनी वस्त्र ओढ़कर बाहर जाने की परम्परा रही है। यह परम्परा अत्यन्त पुष्ट थी और आज भी यह कुछ प्रकारान्तर से मूर्तिपूजकों में प्रचलित है।

'सान्तरुत्तर' शब्द के चार अर्थ प्राप्त होते हैं—

१. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति के अनुसार श्वेत और अल्पमूल्य वस्त्र का निरूपण करने वाला धर्म सान्तरुत्तर है।

२. आचारांगवृत्ति के अनुसार, हेमन्त के अनुसार एक वस्त्र को ओढ़ने तथा एक को पास में रखने की आज्ञा देने वाला धर्म।

३. आचारांगचूर्णि के अनुसार हेमन्त के व्युत्सर्ग जाने पर भी शील की आशंका से दो वस्त्र रखने की अनुमति देने वाला धर्म।

---

१. उत्तराध्ययन, 'अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो'–(२३।१३)।

४. कल्पसूत्रचूर्णि में सूती वस्त्र को भीतर और ऊनी वस्त्र को ऊपर ओढ़ने की व्यवस्था करने वाला धर्म।

इस प्रकार यह 'सान्तरुत्तर' शब्द भी एक विशेष परम्परा का द्योतक है और इसीलिए भगवान् पार्श्व का धर्म इस शब्द से व्यवहृत हुआ है।

मैंने कुछेक शब्दों की ओर संकेत किया है, जो कि परम्पराओं के संवाहक हैं और जिनके पीछे परम्परा की एक लम्बी कहानी है। इन्हें हम केवल पारिभाषिक शब्दमात्र ही नहीं कह सकते। इन शब्दों के पीछे जो रहस्य छिपा है, वह इनकी गौरव-गाथा गाने में पर्याप्त है।

२७. आगम-अध्ययन की दिशा

जो कुछ दीखता है वही सत्य नहीं है, सत्य उससे परे भी है। जो कुछ मिलता है वही सत्य नहीं है, सत्य उससे परे भी है। जो कुछ कहा जाता है वही सत्य नहीं है, सत्य उससे परे भी है।

यह स्वीकरण ही पूर्ण सत्य है, अन्य सारे सत्यांश हैं। एकान्तवाद असत्य ही नहीं होता, वह भी एक तथ्य का स्वीकरण है परन्तु वह इसलिए अग्राह्य है कि वह अपनी मान्यता को ही सत्य मानता है, दूसरे तथ्यों को नहीं, यही मिथ्याप्रवाद है। इस माध्यम से सत्य तक नहीं पहुंचा जा सकता।

प्रत्येक व्यक्ति में अपने प्रति, अपने संस्कारों के प्रति, अपने विचारों के प्रति मोह होता है, उन्हीं में उसे सत्य दीखता है, वास्तव में वह पूर्ण सत्य नहीं, एक आपेक्षिक सत्य मात्र होता है। एक समय था जैन संघ अखण्ड था। काल-व्यवधान से उसमें विघटन हुआ। आज उसमें अनेक सम्प्रदाय हैं। सभी सम्प्रदाय भगवान् महावीर को अपना इष्टदेव मानते हैं और उन्हीं के अनुशासन में साधना करने का दावा करते हैं। सभी ने महावीर को पकड़ा है, परन्तु किसी ने भी उनको समग्रता से पकड़ा हो, ऐसा नहीं है। एक रूप महावीर अनेक रूप हो गए। मूल को भूलकर शाखाओं को ही मूल मान लिया गया। विविधता का पादन्यास हुआ। जिसने जैसा चाहा उसने वैसी ही व्याख्या प्रस्तुत की। व्याख्या-भेद से विचार-भेद प्रवाहित हुआ। विचारों से संस्कार बदले और संस्कारों से सम्प्रदाय बने।

आज जैनों में अनेक सम्प्रदाय, उप-सम्प्रदाय हैं। वे महावीर के दर्शन को अपने रंगों से रंगकर उपस्थित करते हैं। सर्वत्र यही होता है। श्लाघा के रंग से रंगे हुए महावीर या उनका दर्शन तद्तद् सम्प्रदाय को पूर्ण सत्य लगता है। इससे मूल को पकड़ा नहीं जा सकता। मूल को जाने बिना वक्तव्यता का कोई प्रामाणिक आधार नहीं रहता।

आज अन्वेषण का युग है, प्रत्येक क्षेत्र में अन्वेषण हो रहे हैं। प्राचीन सूत्रों के आधार पर नए-नए तथ्य प्रकट हो रहे हैं। व्यक्ति का बुद्धिवाद बढ़ रहा है। अणु-अणु की छानबीन हो रही है। जो जीव-विज्ञान कुछ वर्षों पूर्व धुंधला-सा था आज वह आलोक की ओर बढ़ रहा है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म छानबीन हो रही हैं। इन अन्वेषणों के निष्कर्षों को हम एकान्ततः अन्यथा नहीं कह सकते। वे पूर्ण सत्य न भी हों, परन्तु उस दिशा में की गई प्रगति के प्रतीक हैं, ऐसा हमें मानना होगा। सत्य अनन्त है, उसे अनन्तकाल तक पढ़ा जाए, फिर भी वह पूर्ण नहीं होता। पूर्ण होने का अर्थ है शान्त होना। सत्य की उपलब्धियां सर्वसाधारण के लिए उतनी ही सत्य हैं जितनी कि सर्वज्ञ के लिए पूर्ण सत्य का दर्शन। आज अनुश्रुति का युग नहीं रहा। सुनी-सुनाई बातों को प्रयोग की कसौटी पर कसा जाता है और जब वे सही उतरती हैं तभी स्वीकार की जाती हैं, अन्यथा स्वीकार करने के लिए बुद्धि तत्पर नहीं होती। प्रत्येक पदार्थ को हेतुगम्य मानना यह बुद्धि की अल्पता है। परन्तु हेतुगम्य पदार्थ को हेतुगम्य मानकर आग्रह किए रहना भी बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती। अतः हेतुगम्य पदार्थों को हेतुओं के द्वारा समझने का प्रयत्न करें, काल की लम्बाई पर ध्यान दें। साथ-साथ अहेतुगम्य पदार्थों को हेतुओं के द्वारा जानने का दुराग्रह भी न करें।

जैन लोगों की यह धारणा है कि विक्रम संवत् का प्रवर्तन विक्रमादित्य ने ई. पू. ५७ में किया था। कई शताब्दियों से यही धारणा प्रचलित है। आज तक भी हमने इसकी प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता पर ध्यान नहीं दिया। आज इतिहास स्पष्ट है। इस विषय में अनेक अन्वेषण हुए हैं और भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने इस पर प्रकाश डाला है। तथ्यों के अनुशीलन से हमें इसी निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि हमारी अनुश्रुति एकान्ततः सत्य नहीं है। इस तथ्य की पूर्ण समालोचना करना इस निबन्ध का ध्येय नहीं है, फिर भी कुछेक तथ्य उपस्थित कर मैं बताना चाहता हूं कि किस प्रकार कुछ धारणाएं इतिहास के ज्ञान के अभाव में जड़ बन जाती हैं।

ठाणं सूत्र (१० ।१४२) में दस प्रकार के कल्पवृक्ष आए हैं। कल्पवृक्षों की रूढ़ मान्यता यही है कि वे मन-इच्छित वस्तुओं की पूर्ति करते हैं और यह भी कहा जा सकता है कि वे मनचाहे आभूषण, भोजन, वस्त्र या अन्यान्य सुख-सुविधाएं देते हैं। आगे चलकर यह भी कह दिया जाता है कि यौगलिक-परम्परा के साथ-साथ कल्पवृक्ष भी लुप्त हो गए।

सर्वप्रथम इस रूढ़ मान्यता का कोई पुष्ट आधार नहीं है। यौगलिक-युग में मनुष्य स्वभावतः शान्त, अल्पेच्छु और अनाकांक्षी होता था। प्रकृति से शान्त, सरल और सहज होता था। न समाज था, न राष्ट्र था, न राजा था, न प्रजा थी, न शासन थे, न शासित थे, न अत्याचार था, न दण्ड-विधान था। उस युग के मनुष्यों की आवश्यकताएं अल्प थीं। उनमें मोह, राग, द्वेष आदि की अल्पता थी। युग का वह आदिकाल था। माता-पिता की मृत्यु से पहले एक युगल पैदा होता। यौवन में वही युगल (भाई-बहन) विवाह-सूत्र में बंध जाता। वे अपनी-अपनी आवश्यकताएं कल्पवृक्षों से पूरी करते। वे सभी स्त्री-पुरुष गेहाकार भवन वृक्षों में रहते। वे वृक्ष स्वभाव से ही विशाल और आकार-प्रकार में भी विशाल भवन के समान होते थे। उनमें आरोह और अवरोह के स्वाभाविक साधन रहते। वातायन तरह-तरह के कमरे आदि की स्वाभाविक आकृतियां होतीं। यौगलिकों को उनमें रहने में बहुत ही सुख मिलता। इन्हें **'गेहाकार'** कल्पवृक्ष कहा जाता था।

जब उन्हें प्यास लगती तब वे **'मदांगक'** वृक्ष के पास जाते। यौगलिक इनके फल को तोड़ते और उनसे झरते हुए सुख पेय सुस्वादु मादक रस को पीकर प्यास बुझाते। इस कल्पवृक्ष के फल स्वभावतः ही स्फोट को प्राप्त होते और उनसे वह सुस्वादु रस झरता रहता।

भृंग—ये कल्पवृक्ष भाजनाकार पत्तों वाले होते थे। इन वृक्षों के पत्र, पुष्प या फलों की यह स्वाभाविक परिणति थी कि वे थाली-कटोरा के आकार वाले होते थे। यौगलिक इनका उपयोग काम में आने वाले पदार्थों को रखने के लिए करते थे।

'त्रुटितांग' कल्पवृक्ष उनके आमोद-प्रमोद के साधन थे। इन वृक्षों के फल तत, वितत, घन, सुषिर आदि विभिन्न आकार वाले होते थे और यौगलिक उनका प्रयोग कर बाजों का आनन्द लेते थे।

'दीपांग' और **'ज्योतिअंग'** नाम वाले कल्पवृक्षों से निरन्तर प्रकाश निकलता। यह उनकी विस्रसा स्वाभाविक परिणति थी। **'ज्योतिअंग'** कल्पवृक्षों से सूर्य का-सा प्रकाश निकलता और सारे स्थान को प्रकाशित कर देता। इस प्रकार यौगलिकों की प्रकाश-संबंधी समस्या इससे समाहित हो जाती।

जब वे भूख से पीड़ित होते तब वे **'चित्ररस'** कल्पवृक्षों के पास जाते और उनके फल खाकर क्षुधा-निवारण करते। इन वृक्षों के फल अत्यन्त स्वादिष्ट, बल-बुद्धि के बढ़ाने वाले, इन्द्रिय और शरीर को पुष्ट करने वाले होते थे। इनके खाने से पकवान का आनन्द आता था।

__'चित्रांग'__ कल्पवृक्ष अत्यन्त सुन्दर होते थे। उनके फूल माला के आकार वाले मनोहारी, विविध वर्ण वाले और सुरभियुक्त होते थे।

'मणिअंग' कल्पवृक्षों के पत्र-पुष्प आभरणों के आकार वाले होते थे, कई पत्र-पुष्प, कुण्डल के आकार वाले, कई कटक के आकार वाले, कई बाजूबंद के आकार वाले होते थे। यौगलिक स्त्री-पुरुष इन्हीं को पहनकर आभूषणों का आनन्द लूटते थे।

'अनग्न' कल्पवृक्षों की छाल या पत्र इतने सूक्ष्म और पतले होते थे कि वे वस्त्रों के काम में आते। इन वस्त्रों की विभिन्नताओं से वस्त्र की परिणति में भी विभिन्नताएं आतीं और अति सूक्ष्म सुकुमार देवदूष्य का अनुकरण करने वाले, मनोहर और निर्मल आभा वाले (वस्त्र जैसी परिणति वाले) वस्त्र तैयार हो जाते।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि उनकी सारी आवश्यकताएं कल्पवृक्षों से पूर्ण होती थीं। अतः उन्हें 'कल्पवृक्ष' कह दिया गया। सभी कल्पवृक्ष वृक्षमात्र थे। विभिन्न वृक्षों के विभिन्न उपयोग होते थे, परन्तु यह नहीं कि किसी भी वृक्ष के नीचे खड़े होकर सप्तभौम महल की वांछा करने पर वह पूरित हो जाती हो या खीर-पूड़ी पकवान की अभिलाषा करने मात्र से वह कल्पवृक्ष उनको प्रस्तुत कर देता हो। ये सारी बातें उपचार से कह दी जाती हैं। इसलिए हम इन्हें औपचारिक सत्य भले ही कह दें, पर वास्तविक सत्य नहीं है। टीकाकार इस विषय में बहुत स्पष्ट रहे हैं। परन्तु स्तवककारों की परम्परा ने इस मान्यता को कुछ अतिरंजित कर सामने रखा, अतः लोगों को इसके प्रति कुछ अनास्था-सी हुई।

आए दिन हम समाचारपत्रों में वृक्षों की विचित्र बातें पढ़ते हैं, आज उनसे हमें आश्चर्य होता है। रोने वाले वृक्ष, हंसने वाले वृक्ष, मांसाहारी वृक्ष, ध्वनि करने वाले वृक्ष, दूध देने वाले वृक्ष आदि-आदि के अस्तित्व से हमें यह मानना चाहिए कि ये वृक्ष भी संभवतः उसी परम्परा के हैं। आज भी जंगल में रहने वाली जातियां वृक्षों के पत्तों के वस्त्र पहनती हैं। उन्हीं के चित्र-विचित्र आभूषण बनाकर धारण करती हैं। उन्हीं के पत्र-पुष्प खाती हैं। संक्षेप में वृक्ष ही उनके एकमात्र आधार हैं। इस दशा में ये वृक्ष ही उनके लिए कल्पवृक्ष मनोवांछित पूर्ण करने वाले कहे जाते हैं।

उपरोक्त विवरण से आगम में वर्णित कल्पवृक्षों की यथार्थता प्रकट हो जाती है। यह मान्यता केवल काल्पनिक ही नहीं, बौद्धिक भी है, ऐसा ज्ञान हो जाता है। यह तभी संभव है जबकि हम यथार्थता को देखने का यत्न करते हैं या तद्‌विषयक इतिहास या पारिपार्श्विक उपकरणों की भी उपेक्षा नहीं करते। अतिरंजन वस्तुस्थिति पर आवरण डाल देता है। हम अतिरंजन को वस्तु के व्याख्यान में स्थान दें, परन्तु उसके आवरण को न भुला बैठें। आज के इस साधन-बहुल युग में केवल अनुश्रुति को ही अन्तिम प्रमाण मानकर सत्य की खोज का द्वार बन्द कर देना बुद्धिमत्ता नहीं है।

आज भी आगम-साहित्य में ऐसे बहुत-से तथ्य हैं जो कि प्रयोग के अभाव में लोगों की बुद्धि में नहीं समाते। आज आवश्यकता है कि जैन विद्वान् उनका अन्वेषण करें और यथार्थता को सामने रखने का प्रयास करें। इस प्रक्रिया से आगमों के प्रति अनास्था प्रवाह रुकेगा और लोग आगमों के प्रति विशेष आश्वस्त होंगे।

२८. आगमकालीन सभ्यता और संस्कृति

ज्ञान अनन्त है, ज्ञेय भी अनन्त है। दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। ज्ञान की अनन्तता श्रेय के आनन्त्य को सूचित करती है और ज्ञेय की अनन्तता ज्ञान के आनन्त्य को बताती है। आत्मा अनन्त ज्ञानमय चेतना-पिण्ड है। यह उसका स्वाभाविक स्वरूप है। परन्तु जब वह कर्मबद्ध होती है, तब उसके आवरण की तरतमता से ज्ञान प्रगट होता है और उसी के अनुसार व्यक्ति ज्ञेय का परिच्छेद करता है।

जैन दर्शन ज्ञान की अनन्त उपलब्धि में विश्वास करता है। यह आत्म-शुद्धि सापेक्ष है। जब तक घाति कर्म-चतुष्टय का सर्वथा विनाश नहीं होता, आत्मा में अनन्त-ज्ञान की स्फुरणा नहीं होती। इसके बिना सर्वज्ञता नहीं आती। सर्वज्ञता ज्ञान का चरम विकास है। ज्ञान का तरतम भाव हमें यह मानने के लिए प्रेरित करता है कि ज्ञान की चरम अवस्था भी होनी चाहिए, जिसे पा लेने के बाद और कुछ शेष नहीं रह जाता। यह वीतराग-अवस्था की चरम परिणति है। तदनन्तर साधक निर्द्वन्द्व हो, संकल्प-विकल्पों से सर्वथा छुटकारा पा अननुभूत-समाधि को प्राप्त कर लेता है। अध्यात्म का आदिबिन्दु सम्प्रवृत्ति है और उसकी परिणति है अक्रिया—यही निर्वाण है, मोक्ष है, शान्ति है।

जैन-दर्शन आत्मा का दर्शन है। आत्मा को केन्द्र-बिन्दु मानकर उसकी परिक्रमा किये वह चलता है और उसकी उपलब्धि में अपनी साधना की परिसमाप्ति मानता है।

जैन-दर्शन की भित्ति आत्मवाद है। जब से आत्म-अस्तित्व का ज्ञान है, तब से जैन-दर्शन है और जब से जैन-दर्शन है, तब से आत्म-अस्तित्व का ज्ञान है। यह अनादि-अनन्त है। अनन्त काल-चक्र हो चुके हैं और भविष्य में अनन्त काल-चक्र होंगे। उन सबमें जैन प्रवचन का प्रज्ञापन होता रहेगा। काल की विचित्र परिणति के कारण इसकी उदित या अस्तमित दशा अवश्य होगी, परन्तु यह सम्पूर्णतः नष्ट नहीं होगी।

जैन दर्शन प्राचीन काल में **'निर्ग्रन्थ-प्रवचन'** कहलाता था। आगमों में इसका उल्लेख अनेक बार हुआ है। **'जैन'** शब्द का प्रचलन कब से हुआ, इसका निश्चित इतिहास नहीं मिलता। मेरे देखने में विशेषावश्यकभाष्य गाथा (३८३) में केवली के लिए 'जैन', (प्रा. जइण) शब्द प्रयुक्त हुआ है। संभव है यही सबसे प्राचीन उल्लेख हो।[१]

जैन धर्म और दर्शन के आधार पर ग्रन्थ 'गणिपिटक' आगम 'या' सूत्र कहलाते हैं। श्रुत के अनेक पर्याय हैं, जैसे—श्रुत, सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, प्रवचन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापन, आगम...... ।[२]

---

१. **जइणसमुग्घाय गइए, पत्र १४८।**

२. **'सुयसुत्त गन्थ सिद्ध तप वयणे आणवयण उवएसे।**
पण्णंवण आगमे या एगट्ठा पज्जवा सुत्ते।।
—अनुयोगद्वार ४, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ८९७।

आगम भी सूत्र का पर्याय है। आगम का अर्थ है—जो तत्त्व आचार-परम्परा से वासित होकर आता है, वह आगम है।[१]

इस प्रकार आगम-शब्द समग्र श्रुत-ज्ञान का परिचायक है। परन्तु जैन धार्मिक ग्रन्थों को जो 'आगम' संज्ञा प्राप्त है, वह कुछ विशेष ग्रन्थों के लिए ही है।

'गणिपिटक' शब्द द्वादश अंगों के लिए प्रयुक्त होता है। जैन सूत्रों में स्थान-स्थान पर **'दुवालसंग' 'गणिपिडगं'** ऐसा उल्लेख आता है।[२]

प्रायः यह बारह अंगों का समुदयवाची शब्द है, परन्तु कहीं-कहीं इसे एक अंग का वाचक भी माना है।[३]

इसका शाब्दिक अर्थ है—गणी, आचार्यपिटक, सर्वस्व। आचार्य का सर्वस्व।[४]

सर्वसाधारण में जैन-आगमों के लिए सूत्र संज्ञा प्रचलित है। इसका कारण है कि आगम बहुलांश में सूत्र की परिपाटी में लिये गये है। अतः रचना के आधार पर उन्हें सूत्र कह दिया गया।

आगम-व्यवस्था

आगम के दो मुख्य भेद हैं—अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य अथवा अनंग-प्रविष्ट।[५] ये विभाग प्राचीनतम हैं। गणधर भगवान् महावीर को प्रश्न पूछते

---

१. 'आगच्छत्याचार्यपरम्परया वासनाद्वारेणेत्यागमः।'
—सिद्धसेनगणिकृतभाष्यानुसारिणी टीका, पृ. ८९।

२. समवायांग, प्र. ८८,१३२,१३४।

३. तिण्हं गणिपिडगाणं आचारचूलियावज्जाणं सत्तावण्णं अज्झयणा पण्णत्ता तं जहा—आयारे, सूयगडे ठाणे....। —समवायांग ५७।१।

४. 'गणिपिटकं—गुणगणोऽस्यास्तीति गणी—आचार्यस्तस्य पिटकं सर्वस्वं गणिपिटकम्'—अनुयोगद्वार सूत्र, ४२, मलधारी हेमचन्द्रसूरिकृतबृहद्वृत्तिपत्र, २८८।

५. नंदीसूत्र ४४। देखो—विशेषावश्यकभाष्य पर मलधारीहेमचन्द्रसूरिकृत बृहद्वृत्ति, पत्र-२८८।

हैं—'**भयवं! किं तत्तं।**'[1]

भगवान् कहते हैं—'**उप्पनेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा**' इसे '**प्रश्नत्रितय**', '**मातृ पडिवा**', '**निषधात्रय**' अथवा '**त्रिपदी**' कहा जाता है। इनके फलस्वरूप जिन ग्रन्थों की रचना होती है, वह **अंग-प्रविष्ट** कहलाता है और इतर रचनाएं **अंग-बाह्य**। द्वादशांगी अवश्य ही गणधरकृत है, क्योंकि यह त्रिपदी से उद्भूत होती है। परन्तु गणधरकृत समस्त रचनाएं अंग नहीं कहलातीं। अतः त्रिपदी के बिना मुक्त व्याकरण से जो रचनाएं होती है, चाहे फिर वे गणधरकृत हों या अन्य स्थविरकृत, उन सबका समावेश '**अंग-बाह्य**' से होता है।

आगम-रचना

आगम-रचना के विषय में मतभेद है। कई यह मानते हैं कि गणधर सर्वप्रथम चौदह पूर्वों की रचना करते हैं और तदनन्तर आचार आदि अंगों की रचना होती है।[2]

दूसरा मत यह है कि गणधर सर्वप्रथम आचार आदि की रचना करते हैं और अन्त में चौदह पूर्वों की। पहला मत उचित प्रतीत होता है। उसके औचित्य का निम्न आधार है। पूर्वों में सारा श्रुत समा जाता है। किन्तु साधारण लोग पूर्वों को समझ नहीं सकते। उनका विषय अत्यन्त दुरूह और क्लिष्ट होता है। स्त्रियों को पूर्वों का अध्ययन करने का अधिकार नहीं है। क्योंकि उनमें तुच्छत्व, अभिमान, चंचलता, धृति-दौर्बल्य आदि दूषणों की अधिकता

---

१. **यद् गणधरैः साक्षाद् लब्धं तदङ्गप्रविष्टं तथा द्वादशाङ्गमेतत् पुनः स्थविरैर्भद्रबाहुस्वामिप्रभृतिभिराचार्यैरुपनिबद्धं तदनङ्गप्रविष्टं तच्चावश्यकनिर्युक्त्यादि अथवा वारत्रयंगणधराष्टेन सत्ता भगवता तीर्थंकरेण यत्प्रत्युच्यते 'उत्पन्ने इवा विगमेइ वा धुवइ वा' इति यत्त्रयं तदनुसृत्य यन्निष्पन्नं तदङ्गप्रविष्टं, यत्पुनर्गणधरप्रश्नव्यतिरेकेण शेषकृतप्रश्नपूर्वकं वा भगवतो युत्कलं व्याकरणं तदधिकृत्य यन्निष्पन्नं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यादि, यच्च वा गणधरवचांस्येवोपजित्य दब्धमावश्यकनिर्युक्त्यादि पूर्वस्थविरैस्तदनङ्ग-प्रविष्टं....सर्वपक्षेषु द्वादशाङ्गानामङ्गप्रविष्टं शेषमनङ्गप्रविष्टं उक्तं च—'गणहरधेरवायं वा आएसा मुक्कवा-गरणतो वा। धुवचलविसेसतो वा अंगाणंगेसु नाणंतं....विशेषावश्यक गाथा-५४७। मलयगिरिकृत आवश्यकसूत्र-वृत्तिपत्र-४८।**

२. ....**आचारो....अङ्गलक्षणवस्तुत्वेन प्रथममङ्गस्थापनामधिकृतरचनाऽपेक्षया तु द्वादशमङ्गम्....समवायांग अभयदेवसूरिकृत वृत्तिपत्र-१०८।**

होती है। अतः मन्द बुद्धिवाले लोगों और स्त्रियों के लिए द्वादशांगी तथा अंगबाह्य ग्रन्थों की रचना हुई है।[१]

आगम-साहित्य में अध्ययन-परम्परा के तीन क्रम मिलते हैं। कुछ श्रमण चतुर्दशपूर्वी होते थे, कुछ द्वादशांगी के विद्वान् और कुछ सामायिक आदि ग्यारह अंगों के पाठक होते थे। चतुर्दशपूर्वी श्रमणों का अधिक महत्त्व रहा है। उन्हें 'सुत-केवली' कहा गया है।[२]

जिस प्रकार चतुर्दशपूर्वी हैं, क्या उसी प्रकार ग्यारहपूर्वी, बारहपूर्वी और तेरहपूर्वी भी होते हैं? आचार्य द्रोण ने कहा कि इस अवसर्पिणी काल में चौदह पूर्वधर के बाद दसपूर्वी ही होते हैं, ग्यारह, बारह, तेरहपूर्वी नहीं होते।[३]

सेन प्रश्न (पत्र १०४) में कहा गया है कि जिस प्रकार चौदहपूर्वधर, दसपूर्वधर, नौपूर्वधर हुए हैं उसी प्रकार एक से आठ पूर्वधर भी होने चाहिए, क्योंकि जीव-कल्प की वृत्ति में आचार-प्रकरण से आठ पूर्व तक के धारक को 'श्रुत व्यवहारी' कहा गया है।

आगमों की भाषा

जैन आगमों की भाषा अर्द्धमागधी है।[४] आगम-साहित्य के अनुसार जैन तीर्थंकर अर्धमागधी में उपदेश देते हैं।[५]

---

१. ....ये दुर्मेधसः ते पूर्वाणि नाध्येतुमीशते, पूर्वाणमतिगम्भीरार्थत्वात् तेषां च दुर्मेधसत्वात् स्त्रीणां पूर्वाध्ययनानधिकार एव, तासां तुच्छत्वादि-दोषबहुलत्वात्। उक्तं च–तुच्छा गारवबहुआ चलिंदिया दुब्बलाधिईए य। इति अवसज्झयणा भूयावायो न इत्थीणं....विशेषावश्यकभाष्य गाथा ५५५। ....ततो दुर्मेधसां स्त्रीणां चानुग्रहाय शेषागमानामंगबाह्यस्य च विरचनमति–उक्तं च 'जइविय भूयावए' सव्वस्स वयोगयस्स ओयारो। *निज्जूहणा तहाविहु दुम्मेहेयप्प इत्थीया–विशेषावश्यकभाष्य, गाथा* ५५४।

२. जैनदर्शन : मनन और मीमांसा, पृष्ठ ६०।

३. ओघनिर्युक्ति वृत्तिपत्र ३।

४. प्राकृत आदि छह भाषाओं में 'मागधी' भी एक है। इसमें 'र' और 'स' को 'ल' और 'स' (मागध्यां रसौ लसौ) हो जाता है। यह मागधी का लक्षण है। जो भाषा इस समग्र लक्षण से युक्त नहीं होती उसे अर्धमागधी कहा जाता है। समवायांग सूत्र–अभयदेवसूरिकृत वृत्तिपत्र ५९।

५. भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ–समवायांग, ३४।२२।

इसे उस समय की दिव्यभाषा माना है।[१] यह प्राकृत का ही एक रूप है।[२] प्राकृत को स्वाभाविक और संस्कृत को विकृत 'आगन्तुक' भाषा माना जाता था।[३] यह मगध के एक भाग में बोली जाती थी, इसलिए अर्धमागधी कहलाई।[४] इसमें मागधी और दूसरी अट्ठारह भाषाओं के लक्षण मिश्रित हैं, इसलिए भी इसे अर्धमागधी कहा गया।[५] इसमें देश्य शब्दों की बहुलता है। यह इसलिए कि विभिन्न जाति, देश और कुल के व्यक्ति भगवान् महावीर के तीर्थ में प्रव्रजित हुए। अतः उनकी भाषाओं का मिश्रण स्वाभाविक था। मागधी और देश्य शब्दों का मिश्रण अर्धमागधी है।[५] इसे आर्ष या आर्य भी कहा जाता है।[६]

भाषा की दृष्टि से आगमों को दो युगों में विभक्त किया जा सकता है—ई. पूर्व चार सौ से ई. सौ तक का पहला युग है। इसमें रचित अंगों की भाषा अर्धमागधी है। दूसरा युग ई. सौ से ई. पांच सौ तक का है। इसमें रचित या निर्यूढ आगमों की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है।

२९. उत्तराध्ययन के तीन टीकाकार

वैशाख शुक्ला पंचमी को उत्तराध्ययन सूत्र का कार्य प्रारम्भ हुआ। दशवैकालिक सूत्र के पश्चात् आचारांग का कार्य हमें लेना चाहिए था, क्योंकि ये दोनों सूत्र संबंधित हैं। दशवैकालिक सूत्र में वर्णित साध्वाचार का विस्तार हमें आचारांग में उपलब्ध होता है। अतः दोनों परस्परापेक्षी हैं। दूसरी बात यह है कि दशवैकालिक सूत्र के बृहत्तर कार्यकाल में आचारांग सूत्र के कई स्थलों

---

१. देवा णं अद्धमागहाए भासाए भासंति, भगवती ५।९३।
२. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, पृ. ६१।
३. तित्थगरेहिं वइजोगेण पभासितेहे गणधरेहिं वइजोगेण चेव सुत्तीकतं, तं पुण गहि....पागत भासीए ससभागुणः वैकृतस्तु भाषा आगन्तुक इत्यर्थः, चू. पृ. ७।
४. मगदद्धविसयभासाणिबद्धं अद्धमागहं—निशीथचूर्णि।
५. अट्ठारसदेसीभासाणिमयं वा अद्धमागहं—निशीथचूर्णि।
६. (क) सक्कता पागता चेव, दोण्णि य भणिति आहिया।
सरमंडलंमि गिज्जंते, पसत्था इसिभासिता। (ठाणं ७।४८।१०)
(ख) प्राकृतव्याकरण, हेम. ८।१।३।

का पारायण भी हो चुका था। विषयों की स्पष्टता प्रकाशमान थी। अतः उस सूत्र पर कार्य करने में सुविधा रहती। परन्तु हमारा चुनाव उत्तराध्ययन सूत्र ही रहा। यह भी निष्कारण नहीं था। क्योंकि मूल सूत्र पाठ के निर्धारण के बिना आचारांग या किसी भी सूत्र पर कार्य करना इतना अर्थ नहीं रखता। उत्तराध्ययन सूत्र का पाठ-संशोधन हो चुका था, अतः उस पर ही अन्वेषण कार्य प्रारम्भ हुआ।

आगम-कार्य अवस्थिति और एकान्तता सापेक्ष है। यह अपेक्षा इस महानगर कलकत्ता में हमारे लिए संभव हुई। पढ़ने वाले को आश्चर्य अवश्य होगा परन्तु यह सही स्थिति है। जब तक आचार्यप्रवर कलकत्ता के उपनगरों में अणुव्रत का सन्देश लिए घूम रहे थे, तब तक मुनिश्री नथमलजी तथा उनके निर्देशन में कार्य करने वाले आठ-दस साधु महासभा भवन में ही रहे। कई साधु बीमार थे। उन्हें भी वहीं रखा गया। एक ओर संयमी मुनियों की सेवा, दूसरी ओर जिन-शासन की सेवा—श्रुतसेवा थी। आनन्द का पारावार उमड़ रहा था। रुग्ण-परिचर्या और श्रुताराधना—दोनों कार्य साथ-साथ चलते। जब आचार्यश्री महासभा भवन में चतुर्मासार्थ पधारे तब मुनिश्री नथमलजी आदि छह सन्तों[१] को हेस्टिंग्स में (महासभा के तीन मील दूर) प्रभुदयालजी डाबड़ीवाल के मकान में ठहरने का आदेश दिया। स्थान की नीरवता, स्वच्छता और एकान्तता से कार्य-गति में वेग आया।

उत्तराध्ययन के कार्य के लिए हमारे सामने मुख्यतः तीन प्रतियां थीं—जिनदास की चूर्णि, शान्त्याचार्य और नेमीचन्द्र की टीकाएं। इसके साथ-साथ जेकोबी, सरपेन्टियर तथा अन्यान्य भारतीय विद्वानों के उत्तराध्ययन पर किए गए कार्य भी थे। प्रस्तुत निबन्ध में इन तीनों टीकाकारों का संक्षिप्त परिचय ही अभिप्रेत है।

शान्त्याचार्य

इनके जीवन का विस्तृत लेखा-जोखा प्राप्त नहीं होता। उत्तराध्ययन की टीका के अन्त में प्रशस्ति-श्लोकों में जीवन के कुछेक पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है। उन श्लोकों में इनके काल-मान का कोई नामोल्लेख नहीं है, परन्तु धर्मसागरगणी के गुर्वावली सूत्र में यह उल्लेख आया है कि 'शान्तिसूरी' का

१. मुनि मीठालालजी, सुमेरमलजी 'सुदर्शन', सुमेरमलजी 'सुमन', श्रीचन्द्रजी, दुलहराजजी।

देहावसान वि. सं. १९९६ में हुआ। इसके अनुसार उनका कालमान ग्यारहवीं शताब्दी ठहरता है। इनको 'वादिवेताल' भी कहते थे। परन्तु यह उपाधि क्यों दी गई? इसका समुचित समाधान नहीं मिलता। संभव है ये वाद-विवाद में प्रमुख रहे हों। अतः इन्हें 'वादिवेताल' कहा गया हो। इन टीकाओं से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनका ज्ञान सर्वांगस्पर्शी था।

कई प्रतियों में प्रशस्ति के सात श्लोक और कइयों में तीन ही श्लोक मिलते हैं। उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि शान्त्याचार्य धारापद्रगच्छ (थ, रापद्रगच्छ) के अनुयायी थे, जिसका उत्स था 'काथकर-नान्वय'। यह चन्द्रकुल की शाखा थी और चन्द्रकुल 'वायरी शाखा' का एक विभाग था, जो कोटिक वंश से उत्पन्न हुआ था। कोटिक गण के संस्थापक आचार्य सुहस्ती के दोनों शिष्य—सुस्थित और सुप्रतिबन्ध थे। शान्तिसूरी के गुरु या अध्यापक सर्वदेव और अभयदेव थे। ये अभयदेव नवांगी टीकाकार अभयदेव सूरी से भिन्न हैं, क्योंकि इनकी मृत्यु सं. ११३५ अथवा ११३९ में हुई थी और ये शान्तिसूरी से छोटे थे।

आगे चलकर प्रशस्ति में शान्तिसूरी हमें यह बताते हैं कि उनके समय में उत्तराध्ययन पर अनेक टीकाएं—वृत्तियां थीं तो भी गुणसेन की प्रेरणा से उन्होंने यह बृहत्तर कार्य प्रारम्भ किया और भिल्लभाल कुटुम्ब के भूषण श्री शान्त्यामात्य द्वारा संस्थापित 'अणहिलपाटन' चैत्य में इसे लिखा। परन्तु टीका की पूर्ति कब और कहां हुई इसका उसमें कोई उल्लेख नहीं है। बस इतना संक्षिप्त विवरण ही प्रशस्ति श्लोकों से उपलब्ध है।

इनकी टीका 'शिष्यहिता टीका' के नाम से प्रसिद्ध है और इसकी यह विशेषता है कि इसमें मूल सूत्र और निर्युक्ति दोनों की व्याख्याएं उपलब्ध हैं। अनेक प्रतियों में शिष्यहिता का उल्लेख नहीं हुआ है। यह कहा जा सकता है कि उत्तराध्ययन पर लिखी गई प्राचीन टीकाओं में यह शीर्ष स्थानीय है। पाठान्तरों का इसमें समुचित संग्रह किया गया है जिससे कि उस समय की विभिन्न वाचनाओं की ओर संकेत मिलता है। सबसे बड़ी बात इसमें यह है कि इसमें पाठान्तरों के साथ-साथ अर्थान्तरों का भी उल्लेख है जिससे कि अर्थ के उत्कर्षापकर्ष का भली-भांति पता लग जाता है। पाठान्तरों का उल्लेख **'पठन्ति च, पाठारन्तश्च, पाठान्तरे तु'**—ऐसा कहकर करते हैं। कहीं-कहीं 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' लिखकर पाठान्तर की ओर संकेत किया है और यह

१।४७, ३।१२, ६।१, ८।१ में आया है। सरपेन्टियर ने यहां यह प्रश्न उपस्थित किया है कि शान्त्याचार्य 'नागार्जुनीय' के पाठों का उल्लेख क्यों करते हैं? और इसको समाहित करते हुए लिखते हैं कि आचार्य नागार्जुन 'देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण' के परम्परा-गुरु थे। अतः देवर्द्धिगणी के अन्य पाठान्तरों के साथ आचार्य नागार्जुन के पाठों को भी संगृहीत किया। गुरु के प्रति विशेष श्रद्धा प्रदर्शित करते हुए उनके नामोल्लेखपूर्वक पाठान्तरों का अपनी प्रतियों में उल्लेख किया है। इनकी टीका से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्होंने किसी एक ही पूर्वज का अनुसरण नहीं किया है। परन्तु उस समय में उपलब्ध सामग्री का यथोचित उपयोग किया। यही कारण है कि एक ही शब्द के समास-भेद से या परम्परा-भेद से वे अनेक अर्थ देने में समर्थ हुए हैं। दूसरी बात है कि टीका में यत्र-तत्र विभिन्न ऐतिहासिक सामग्री भी मिलती है। शान्तिसूरी ने अपनी टीका में विभिन्न कथाओं का संग्रह भी किया है। परन्तु ये कथाएं अत्यन्त संक्षिप्त हैं। इनका विस्तृत रूप नेमीचन्द्र की सुख-बोधा टीका में मिलता है। ल्यूमेन ने इस भिन्नता को लक्षित कर यह अनुमान किया है कि देवेन्द्र (नेमीचन्द्र) ने अपनी टीका में अन्यान्य स्रोतों से सामग्री एकत्रित की और विशेषतः दृष्टिवाद के चतुर्थ भाग से, जिनमें कि पौराणिक कथाएं और जीवनियां संदृब्ध थीं। परन्तु शान्तिसूरी ने ऐसा नहीं किया। यही कारण है कि वे 'उत्तराध्ययन परम्परा' को यथार्थ रूप में उपस्थित करते हैं और नेमीचन्द्र अन्यान्य सूत्रों की सामग्री से मिश्रित कर उसको रखते हैं।

शान्तिसूरी ने दशवैकालिक सूत्र के श्लोकों का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। इनका प्रमुख दृष्टिकोण सूत्रार्थ को स्पष्ट करने का रहा है, अन्यान्य सामग्री का विस्तार अनपेक्षित ही था। यह इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि उत्तराध्ययन सूत्र में आठवें अध्ययन के तेरहवें श्लोक में लौकिक विद्या के द्योतक तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं—लक्खण (सं. लक्षणविद्या), सुविणं (सं. स्वप्न-विज्ञान), अंगविज्जं (सं. अंगविद्या)। ये तीनों विद्याएं भारतीय ऋषि-मुनियों द्वारा फलित, पुष्पित और पल्लवित हुईं। इन पर अनेकानेक ग्रन्थ लिखे गए, विस्तृत व्याख्याएं लिखी गईं और क्रियात्मक अनुभूतियों का संचालन भी हुआ। जैनों के प्राचीनतम साहित्य 'पूर्वों' में इन विद्याओं का सर्वांगीण विवेचन भरा पड़ा था। इसका विवरण यत्र-तत्र उत्तरवर्ती साहित्य में उपलब्ध कई एक घटनाओं से मिलता है।

लक्षण विद्या के प्रसंग में शान्त्याचार्य केवल एक ही श्लोक प्रस्तुत करते

हैं और नेमीचन्द्र सोलह श्लोक देते हैं। इसी प्रकार स्वप्न के संबंध में शान्त्याचार्य दो श्लोक और अंगविज्जा के लिए **'सिरफुरणे किररज्जं इति आदि'**[1] ऐसा कहकर छोड़ देते हैं, परन्तु नेमीचन्द्र तेरह और सात श्लोक देते हैं। इसी प्रकार संक्षेप और विस्तार होता रहा है।

टीका का ग्रन्थाग्र १८,००० श्लोक परिमित है। ५५७ गाथाएं निर्युक्ति की हैं, जिन पर भी टीका है। यदि टीका न हो तो कहीं-कहीं ये गाथाएं अत्यन्त अस्पष्ट रह जाती हैं। यथा निर्युक्ति ९५,३७५ आदि।

देवेन्द्रगणी

इन्हें नेमीचन्द्र भी कहते हैं। इनकी उत्तराध्ययन की टीका 'सुखबोधा' कहलाती है। उत्तराध्ययन की टीका के अन्त में प्रशस्ति श्लोकों से यह पता चलता है कि इस टीका की समाप्ति सं. ११२९ में हुई थी। अतः इनका कालमान ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी कह सकते हैं। ये तपागच्छ के थे और इनके गुरु अमरदेव वृहद्गच्छ के आचार्य उद्योतन के शिष्य थे। वृहद्गच्छ चन्द्रकुल के आधिपत्य में था, जिसकी श्लाघा प्रद्युम्न, मानदेव आदि आचार्यों ने की है। देवेन्द्र को इस टीका लिखने की प्रेरणा अपने सतीर्थिक मुनि आचार्य मुनिचन्द्र से मिली थी और 'अणहिलपाटन' नगर में 'दोहडि सेठ' की वसति में यह सम्पूर्ण हुई। इसका ग्रन्थमान बारह हजार अनुष्टुप् श्लोक परिमाण है। यह टीका अपने आपमें स्वतंत्र रचना नहीं है। आचार्य शान्तिसूरी की बृहद्वृत्ति का यह लघु प्रतिबिम्ब-सा है। ग्रन्थकर्ता नेमीचन्द्र स्वयं अपनी टीका के प्रारंभ में यह लिखते हैं कि—

'बह्वर्थाद् वृद्धकृताद्, गम्भीराद् विवरणात् समुद्धृत्य।
अध्ययनानामुत्तर-पूर्वाणामेकपाठगताम् ॥३॥
अर्थान्तराणि पाठान्तराणि सूत्रे च वृद्धटीकातः।
बोद्धव्यानि यतोऽयं, प्रारम्भो गमनिकामात्रम् ॥४॥

अर्थात् उत्तराध्ययन पर वृद्ध रचित बह्वर्थक गम्भीर विवरण के आधार पर यह टीका रची गई है। अर्थान्तर और पाठान्तर वृद्ध टीका से जानने चाहिए। यह तो केवल गमनिकामात्र है।

इस टीका की अपनी एक अनुपम विशेषता यह है कि इसमें कथाओं

---

१. **उत्तराध्ययन, सुखबोधा, वृत्ति, पृ. १३०।**

का विशिष्ट संकलन हुआ है। इसी विशेषता के कारण पाश्चात्य विद्वान् इस ओर आकृष्ट हुए हैं। कथाओं का संकेत शान्त्याचार्य की टीकाओं में भी मिलता है, परन्तु वह केवल नाममात्र का है। कहीं-कहीं दो-तीन लाइनें और कहीं-कहीं एक-एक पृष्ठ की कथाएं हैं, जो वस्तुतः किसी भावना-विशेष को स्पष्ट नहीं करतीं। परन्तु नेमीचन्द्र की टीका में संगृहीत कथा-वस्तु विस्तृत और रुचिपूर्ण है। महाराष्ट्रीय प्राकृत की सुललित शब्दावली में सन्दृब्ध ये कथाएं बेजोड़ हैं। ये कथाएं किसी प्राचीन सामग्री से संकलित की हों—ऐसा उन्हीं के शब्दों से स्पष्ट प्रतीत होता है। स्वयं नेमीचन्द्र यह कहते हैं कि—**'एतानि च चरितानि यथा पूर्व-प्रबन्धेषु दृष्टानि तथा लिखितानि।'** ये (प्रत्येक बुद्ध के कथानक) जैसे पूर्व प्रबंधों में देखे हैं वैसे ही लिखे हैं। 'सरपेन्टियर' ने 'पूर्वप्रबन्धेषु' की मीमांसा की है और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि—यद्यपि 'पूर्वप्रबन्धेषु' का परम्परागत अर्थ ज्ञात नहीं है, फिर भी ल्यूमेन का यह कथन है कि यह शब्द दृष्टिवाद के किसी अंश का द्योतक है।[१] सर्वप्रथम इन कथाओं का परिचय डॉ. हर्मन जेकोबी ने अपनी कृति Ausgewahete Cargah Nugen in Maharastri में किया जो कि ई. १८८६ में प्रकाशित हुई थी। ये जर्मन भाषा में लिखी गई थीं। यही कथाएं १९०९ में ले. जे. मेयर द्वारा Hindu Tailes में अंग्रेजी भाषा में अनूदित हुई थीं, जिसमें कि विद्वतापूर्ण टिप्पणियां भी थीं। अन्यान्य विद्वानों ने भी इन कथाओं का उपयोग किया है।

सरपेन्टियर ने नेमीचन्द्र की टीका को मुख्य मानकर पाठ निर्धारण किया है और टिप्पणियां लिखी हैं। उनका यह तर्क है कि इस कृति में पाठान्तरों का झमेला नहीं है, अतः पाठक व अन्वेषक विद्यार्थी को सुविधा मिलती है। इसमें मूल शब्दों का अर्थ अत्यन्त संक्षिप्त और सारगर्भित है। बीच-बीच में दशवैकालिक सूत्र के उद्धरण तथा अन्यान्य ग्रन्थों के श्लोक, गाथाएं आदि भी उद्धृत किये हैं। अन्यान्य विषयों के विस्तार की अपेक्षा से यह शान्त्यासूरि की टीका से बढ़-चढ़कर है। इसका सोदाहरण उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया गया है।

एक बात समझ में नहीं आती कि दोनों टीकाकार अपनी टीका लिखने के क्रम का निर्वाह क्यों नहीं करते। प्रथम कई अध्ययनों की टीका विस्तृत है

---

१. दी उत्तराध्ययन, भूमिका, पृ. १६, बाई सरपेन्टियर।

और लगभग अन्तिम बारह-तेरह अध्ययनों की अत्यन्त संक्षिप्त। उनमें न अन्यान्य गाथाओं का संकलन ही है और न विशेष कथाएं भी हैं। नेमीचन्द्र की अन्य रचनाएं भी हैं, जिनमें **'महावीर चरित्र'** एक अनुपम प्राकृत ग्रन्थ-रत्न है। इसकी रचना प्राकृत पद्यों में हुई और उसी 'अणहिल पाटन' नगर के दोहडि श्रेष्ठी की वसति में वह सं. ११४१ में समाप्त हुई थी। संभव है उत्तराध्ययन की टीका के पश्चात् वे अन्यान्य नगरों में विहार करते हुए पुनः उसी नगर में आए और उसी श्रेष्ठी के यहां रहकर यह रचना की।[1]

जिनदास

इस चूर्णि के कर्त्ता जिनदास महत्तर हैं—यह सुविदित है। फिर भी सरपेन्टियर आदि यह कहते हैं कि इस चूर्णि के कर्त्ता अज्ञात हैं। ऐसा कहने का वे यह आधार प्रस्तुत करते हैं कि शान्तिसूरी और नेमीचन्द्र ने अपनी टीकाओं में केवल—**'चूर्ण्यां दृश्यते, चूर्णिकार, चूर्णिकृत'** इतना मात्र उल्लेख किया है। परन्तु यह आधार गलत है। यह सर्वविदित तथ्य है कि बहुलांश में चूर्णि-ग्रन्थ के प्रणेता जिनदास महत्तर ही हैं और यह स्पष्ट है कि अनेक आगमों पर उनकी चूर्णियां मिलती हैं। अतः टीकाकारों ने उनका नामोल्लेख करना आवश्यक न समझा हो।

उत्तराध्ययन सूत्र की चूर्णि में ऐतिहासिक तथ्यों का संचयन है। इसमें पाठान्तर और अर्थान्तरों का भी यत्र-तत्र उल्लेख है। अर्थ करने की इसकी स्वतंत्र विधि है। प्रायः शब्दों की व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ किया गया है, जैसे—**'अश्नुते सर्वलोकेष्विति यशः, वृणोति वृण्वन्ति तमिति वर्णः, एति याति अस्मिन्निति आयुः, स्त्यायते इति स्तेनः'** आदि-आदि। ये अर्थ कहीं-कहीं अत्यन्त स्पष्ट और सुबोध्य हैं, परन्तु कहीं-कहीं अत्यन्त दूर जा पड़ते हैं। कथाओं का ग्रहण भी हुआ है, परन्तु अत्यन्त संक्षिप्त। सबसे बड़ी विसंगति यह है कि प्रारंभिक बारह अध्ययनों की चूर्णि विस्तृत है और अगले अध्ययनों की संक्षिप्त। यह तथ्य इस प्रकाश किरण में अत्यधिक स्पष्ट हो जाता है कि इस चूर्णि के मुद्रित पृष्ठ २८४ हैं। इनमें प्रथम बारह अध्ययन के २१२ पृष्ठ हैं और शेष २४ अध्ययनों के केवल ७२ पृष्ठ। ऐसा क्यों हुआ, इसका समाधान सरल नहीं है। इसका ग्रन्थाग्र ५८५० अनुष्टुप् श्लोक परिमाण है। यह

---

१. उत्तराध्ययन, सुखबोधा की प्रस्तावना, पृ. २।

चूर्णि अर्थ आदि के निश्चय में इतनी सहायक नहीं बनती, जितनी शान्त्याचार्य की टीका। फिर भी कई एक दृष्टियों से इसके प्राथमिक अध्ययन अवश्य बोद्धव्य हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र के कार्य-काल में हमने इन तीनों (शान्त्याचार्य और नेमीचन्द्र की टीका, जिनदास की चूर्णि) का यथायोग्य उपयोग किया है। फिर भी जहां-जहां हमें जैन-परम्परा से विसंगति प्रतीत हुई है वहां हमने अपना मौलिक दृष्टिकोण रखा है और टिप्पण में उसका सकारण उल्लेख किया है। उत्तराध्ययन सूत्र का अनुवाद पूर्ण हो चुका है और पन्द्रह अध्ययनों की विस्तृत टिप्पणियां भी लिखी जा चुकी हैं। संभव है यह सारा कार्य चतुर्मास तक पूर्ण हो जाए। स्थान की नीरवता और एकान्तता ने इस कार्य-प्रगति में सहायता पहुंचाई है—इसमें कोई सन्देह नहीं। इससे अधिक आचार्यप्रवर की उत्साहवर्द्धक प्रेरणा और कुशल निर्देशक मुनिश्री नथमलजी की कार्यनिष्ठा और सहयोगी सन्तों के श्रम से ही अल्प समय में यह गुरुतर कार्य हो सका है। अभी तो हम अन्वेषण कार्य के प्रथम सोपान पर हैं—मंजिल दूर है, परन्तु मुनिश्री बुद्धमल्लजी की उक्ति से **'चलते हैं जब पैर, स्वयं पथ बन जाता है'**—हम मंजिल के पास हैं—ऐसा अनुभव करते हैं। कार्यनिष्ठा का प्रत्येक चरण लक्ष्य की अविकल अनुभूति को लिए चलता है। जब वह अनुभूति पूर्णता को प्राप्त होती है तब स्वयं लक्ष्य कर्मनिष्ठ बन कर्मरत व्यक्ति में ओत-प्रोत हो जाता है।

सर्जक का कार्य है सर्जन करना। उसका उपयोग जन-मानस कितना कर सकता है, यह उसी पर निर्भर है। बीच में एक रेखा और है जो सर्जक और जन-मानस को जोड़ती है। वह है सत्ता की पांखों से उड़ान भरने वाली—कभी सही, कभी झूठी विद्वत् वर्ग या अधिकारी वर्ग की श्रेणी। वह रचयिता की रचना को कब, कैसे जनसाधारण के सामने उपस्थित करना है, यह जानती है। यदि यह तथ्य अनभिज्ञ रहता है तो वह उसे ही लील जाती है और तथ्य की अभिज्ञता होने पर भी यदि अकर्मण्यता होती है तो भी वह अपने उत्तरदायित्व के अग्निकुण्ड में भस्म हो जाता है। उत्तरदायित्व वह है जिसके निभाने में अपूर्व आत्मतोष होता है और उत्तरदायित्व के योग्य व्यक्ति वह है जिसमें जीवन की अनेक महत्त्वाकांक्षाएं अनवरत प्रज्वलित रहती हैं। अकर्मण्यता, आलस्य, कलह आदि दोष उत्तरदायी व्यक्ति को भी अनुत्तरदायी बना देते हैं—इसे कार्यकर्त्ता न भूलें।

३०. उत्तराध्ययनगत देश, नगर और ग्रामों का परिचय

साहित्य दर्पण है। उसमें तात्कालिक तथ्यों का विशद प्रतिबिम्ब मिलता है। संस्कृति, सभ्यता, परम्पराएं, ऐतिहासिक तथ्य, जीवन-दर्शन, विचार-क्रांति, साधना-पद्धति आदि-आदि विषयों के साथ देश, ग्राम, नगर आदि की भोगौलिक स्थितियां तथा उनके परिवर्तन-परिवर्द्धन, उत्कर्ष-अपकर्ष आदि का भी विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है।

जैन-साहित्य इन सभी दृष्टियों से संपन्न है। जैन-आगम साहित्य बहुत प्राचीन है। वह सभी वर्णनों का मूल उत्स है। उसमें प्रतिपादित तथ्यों की समीक्षा तथा समालोचना प्रस्तुत करते हुए उत्तरवर्ती आचार्यों ने उन तथ्यों का विस्तार किया है और अपने समय के तथ्यों का उनमें उल्लेख कर परम्परा के सातत्य को अक्षुण्ण रखा है। आगमों का व्याख्यात्मक-साहित्य इसका प्रमाण है। आज भी उपलब्ध चूर्णियों में जो तथ्य उपलब्ध होते हैं वे भारत के इतिहास का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करते हैं। महापंडित राहुलसांकृत्यायन ने **'बौद्धकालीन भारत'** ग्रन्थ का निर्माण कर भारत के भौगोलिक, सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन का खाका प्रस्तुत किया है। यह प्रयास स्तुत्य है और इससे भारतीय इतिहास को समझने-बूझने का अवसर मिला है।

इतने वर्षों तक जैन-ग्रन्थ उपेक्षित से रहे, परन्तु आज उनकी ओर विद्वानों का ध्यान गया है और यह माना जाने लगा है कि प्राचीन जैन-साहित्य की उपेक्षा कर भारतीय इतिहास को सर्वांगपूर्ण नहीं बनाया जा सकता। अनेक विद्वान् इस ओर कार्यशील हैं और प्रतिदिन जैन-परम्परा के नए-नए तथ्य प्रस्तुत किए जा रहे हैं। आचार्यश्री तुलसी भी इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। उनके निर्देशन में प्रस्तूयमान आगम-कार्य इसी प्रयत्न का पूरक अंश है। **'आगम-कालीन सभ्यता और संस्कृति'** तथा **'आगमकालीन भारत'**—इन दो विषयों पर बृहद् ग्रन्थ निर्माण की ज्वलंत आवश्यकता आज महसूस हो रही है। संभव है आचार्यश्री की उद्यमपरता से इन ग्रन्थों का निर्माण निकट भविष्य में हो जाए।

प्रस्तुत निबन्ध भी **'आगम कालीन भारत'** के एक अंश की पूर्तिमात्र है। इस निबन्ध में उत्तराध्ययन सूत्र में उल्लिखित ग्राम, नगर, देश आदि की भोगौलिक स्थिति तथा वर्तमान में उनकी संभावित अवस्थिति पर प्रकाश डालने का प्रयासमात्र है।

वर्तमान में अनेक नगरों के वर्णन में स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं, फिर भी उनमें अन्वेषणीय कुछ न कुछ अवशेष रह ही जाता है। खोज के इस अनन्त समुद्र में समय-समय पर नए तथ्य उपलब्ध होते रहे हैं और यही उपलब्धि एषणा को सद्यस्क बनाए रखती है।

वाणारसी[१] (बनारस)

सोलह महाजनपदों में 'काशी' का उल्लेख हुआ है। वाणारसी काशी की राजधानी थी। पाणिनी व्याकरण के अनुसार 'वर' और 'अनस' शब्द से 'वाणारसी' की उत्पत्ति बताई जाती है। ब्राह्मण लोग 'वरुण' और 'असि' नामक झरनों से इसकी संगति करते हैं। ग्रीक लोगों को भी बनारस का किञ्चित् परिचय था। उनका प्रसिद्ध भूगोलवेत्ता टोलमी Ptolemy काशी को 'कस्सिडिया' नाम से उल्लिखित करता है। उसके अनुसार पहले काशी की राजधानी भी इसी नाम की थी। जब बिच्छु लोगों ने प्राचीन काशी नगर का विध्वंस किया, तब प्राचीन नगर के ध्वंसावशेषों से किञ्चित् हटकर वाराणसी बसाई गई। इसे 'ओरनिस' (Aornis) अथवा 'अवरनस' (Avernus) नाम से परिचित करते हैं।[२] मुगलों ने इसका नाम 'बनारस' रखा।[३]

बनारस गंगा नदी के तट पर बसा हुआ एक समृद्धशाली नगर था। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार इसका विस्तार ८५ वर्गमील में था। भगवान् महावीर तथा महात्मा बुद्ध यहां अनेक बार आए थे। यह विद्या का बहुत बड़ा केन्द्र था। वैदिक तीर्थों में इसे पूर्व का परम तीर्थ माना है। जैन-ग्रन्थों के अनुसार तीर्थंकर सुपार्श्व तथा तीर्थंकर पार्श्वनाथ की जन्मभूमि भी वही है। पार्श्वनाथ की जन्मभूमि 'भेलुपुर' और तीर्थंकर सुपार्श्व की जन्मभूमि 'भदैनी'—ये दोनों बनारस के ही अंग थे। जिनप्रभसूरि के अनुसार बनारस चार भागों में बंटा हुआ था— **१. देव वाराणसी २. राजधानी वाराणसी ३. मदन वाराणसी और ४. विजय वाराणसी।**[४]

बनारस बौद्ध-दर्शन का प्रचार क्षेत्र भी रहा था। उसके आसपास के ध्वंसावशेष इसी बात के साक्षी हैं। यह एक बहुत बड़ा व्यापारिक केन्द्र था।

१. **उत्तराध्ययन, २५।३।**
२. **कामताप्रसाद जैन—भगवान पार्श्वनाथ (पूर्वार्द्ध) पृ. ९४।**
३. **एसियाटिक रिसर्चेज भाग ३, पृ. १९२।**
४. **भारत के प्राचीन जैनतीर्थ, पृ. ३६।**

जातकों में बनारस के साथ बहुत से नगरों और देशों के व्यापार का उल्लेख प्राप्त होता है। कम्बोज, कांपिल्य, कपिलवस्तु, कोशल, कौशाम्बी, मिथिला, मथुरा, पांचाल, सिन्ध, उज्जैन, विदेह आदि के साथ बनारस का व्यापारिक संबंध सूचित करता है। सुदूर प्रदेश 'बेबिलोनिया' के साथ भी उसका व्यापार होता था। इसका उल्लेख 'बावेस' जातक में मिलता है। उस समय राजा ब्रह्मदत्त बनारस में राज्य करता था। कुछ व्यापारी 'बावेस' (बेबीलोन) देश में व्यापारार्थ गए। वे अपने साथ एक 'कौआ' भी ले गए थे। उस देश में कोई भी पक्षी नहीं होता था। जब लोगों ने कौए को देखा तो उस उड़ने वाले विचित्र पक्षी को उन्होंने सौ मुद्राओं में खरीद लिया। दूसरी बार वे व्यापारी अपने साथ 'मोर' ले गए। उस पक्षी को देख बावेसवासियों को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। एक सहस्र मुद्राओं में उन्होंने उसे खरीद लिया।

बनारस नगर भारत के विशिष्ट व्यवसायी नगरों में से एक था। भारत के बड़े-बड़े नगरों से यह सड़कों द्वारा जुड़ा हुआ था। यहां अनेक श्रेष्ठी रहते थे। 'यश' यहां का प्रसिद्ध श्रेष्ठी था, जो कि आगे चलकर बुद्ध का छठा शिष्य बन गया। भारत में चम्पा और बनारस अच्छे बन्दरगाह माने जाते थे। बनारस से नदी के रास्ते से लोग दूर-दूर तक जाते थे। यहां से (नदी के मार्ग से) वत्स या वंश प्रदेश तीस योजन दूर था।

श्रावस्ती और बनारस बुद्ध के प्रमुख शिष्यों के अत्यन्त प्रिय स्थान थे। बुद्ध के पांच साथी तपस्वियों ने बनारस से छह मील दूर ऋषिपत्तन को अपना निवासस्थान चुना था। बनारस के निकट 'खेमियंब वन' नाम का एक विशाल आम्रवन था।[१] बुद्ध ने भिक्षुओं को दीक्षा देने का कार्य बनारस-ऋषिपत्तन में अपने पांच पुराने ब्राह्मण मित्रों से आरम्भ किया था, अतः बनारस बौद्ध-दीक्षा का आदि-स्थल माना जाने लगा। यहां 'पातिमोक्ख सुत्त' के कतिपय नियमों का निर्माण हुआ, ऐसा माना जाता है। 'पातिमोक्ख' के २२७ नियमों में अधिकांशतः सावत्थी में और कुछ बनारस, कोसंबी तथा कपिलवत्थु में बनाए गए थे।[२]

'महापरिनिव्वान सुत्तान्त' में बनारस के महीन कपड़ों की बहुत प्रशंसा की

१. **उत्तरप्रदेश में बौद्धधर्म का विकास**, पृ. ३।
२. वही, पृ. १७२-१७३।

है। उत्तरापथ के घोड़े के व्यापारी बनारस आकर अपने घोड़े बेचते थे।

उत्तराध्ययन के चौबीसवें अध्ययन में बनारस के दो ब्राह्मण भाई जयघोष और विजयघोष का जीवनवृत्त सन्दृब्ध है। एक बार जयघोष गंगा पर स्नान करने गया। वहां उसने देखा कि एक सर्प मेंढक को निगल रहा है और एक मार्जार सर्प को खाने के लिए तत्पर है। ऐसी अवस्था में भी चींचीं करते हुए मेंढक को सर्प खा रहा है और तड़फड़ाते हुए सर्प को मार्जार खा रहा है। यह दृश्य जयघोष के वैराग्य का निमित्त बना। उसने सोचा—'**अहो! संसार असार है। सबल निबल को निगल रहा है। संसार में भी प्राणी एक दूसरे को निगले जा रहे हैं। यहां तो धर्म ही एक शरण है।**'[१]

मिथिला[२]

यह विदेह (तिरहुत) देश की राजधानी थी। मिथिला चम्पा (भागलपुर के पास वर्तमान में नाथनगर) साठ योजन की दूरी पर थी। सुरुचि जातक में उसके विस्तार का पता लगता है। एक बार बनारस के राजा ने ऐसा निश्चय किया कि वह अपनी कन्या का विवाह एक ऐसे राजपुत्र से करेगा जो 'एकपत्निव्रत' को अंगीकार करेगा। मिथिला के कुमार सुरुचि के साथ विवाह की बात चल रही थी। 'एकपत्निव्रत' की बात सुनकर वहां के वरिष्ठ व्यक्तियों ने कहा—'मिथिला नगरी का विस्तार सात योजन का है। राज्य का सारा विस्तार तीन सौ योजन का है। हमारा राज्य बहुत बड़ा है। ऐसे राज्य के राजा के अन्तःपुर में सोलह हजार रानियां अवश्य होनी चाहिए।'[३]

बौद्ध-ग्रन्थों में वज्जियों के आठ कुलों का नामोल्लेख हुआ है, उनमें वैशाली के लिच्छवी और मिथिला के विदेह मुख्य थे।

मिथिला का दूसरा नाम 'जनकपुरी' था। जिनप्रभसूरि के समय मिथिला नगरी 'जगइ' के नाम से प्रसिद्ध थी।[४] यहां जैन-श्रमणों की एक शाखा 'मैथिलिया' कहा जाता था।[५] भगवान् महावीर ने यहां छह चतुर्मास बिताए।[६]

१. उत्तरा. टीका. (नेमीचन्द्रीय) पत्र ३०५।
२. उत्तराध्ययन, ९।४।
३. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ. २७२।
४. विविध तीर्थ, पृ. ३२।
५. कल्पसू, पृ. २३१।
६. कल्पसूत्र, पृ. १२३।

आठवें गणधर अकंपित की यह जन्म-भूमि थी।[१] चौथे निह्नव अश्वमित्र ने वीर निर्वाण के २२० वर्ष पश्चात् 'सामुच्छेदिकवाद' का प्रवर्तन यहीं से किया था।[२] दशपूर्वधर आर्य महागिरि ने यहां विहार किया था।[३] ईसवी सन् के पूर्व 'मिथिला' जैन धर्म के प्रसार-प्रचार का प्रमुख केन्द्र था। भगवान् महावीर ने दसवां चतुर्मास श्रावस्ती में बिताया। वहां से विहार कर मिथिला होते हुए वैशाली पहुंचे और वहां ग्यारहवां चतुर्मास किया था। कई यह भी मानते हैं कि भगवान् ने ग्यारहवां चतुर्मास मिथिला में किया था।

ठाणं सूत्र (१०।२७) में दस राजधानियों का नामोल्लेख हुआ है, उसमें मिथिला भी एक है।[४]

जगदीशचन्द्र जैन ने मिथिला का वर्णन करते हुए लिखा है–'किसी समय मिथिला प्राचीन सभ्यता तथा विद्या का केन्द्र था। ईसवी सन् की नौंवी सदी में यहां प्रसिद्ध विद्वान् मंडन मिश्र निवास करते थे।.....यह नगरी प्रसिद्ध नैयायिक वाचस्पति मिश्र की जन्मभूमि थी तथा मैथिल कवि विद्यापति यहां के राजदरबार में रहते थे। नेपाल की सीमा पर 'जनकपुर' को प्राचीन 'मथुरा' माना जाता है।'[५]

बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार विदेह की राजधानी वैशाली थी। यह मध्यप्रदेश का एक प्रधान नगर था।

आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार उस समय मिथिला में राजा 'जनक' राज्य करते थे।[६]

सावत्थी–श्रावस्ती[७]

कनिंघम ने इसकी पहचान सहेत-महेत से की है, जो कि गोंडा और बहराइच जिलों की सीमा के पास राप्ती नदी के तट पर स्थित है।[८] यह स्थान

१. आवश्यकनिर्युक्ति गा. ६४४।
२. आवश्यकभाष्य गा. १३१।
३. आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ७८२।
४. चम्पा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ती, साकेत, हस्तिनापुर, कांपिल्य, मिथिला, कौशाम्बी, राजगृह।
५. भारत के प्राचीन जैनतीर्थ, पृ. २८।
६. गाथा ५१६–'मिहिला जणओ य।'........
७. उत्तराध्ययन, २३।३।
८. Political History of Ancient India, p. 100.

उत्तर-पूर्वीय रेलवे के बलरामपुर स्टेशन से पक्की सड़क के रास्ते दस मील दूर है। बहराइच से इसकी दूरी २९ मील है।[१] जब फाहियान और हुएनसांग इस स्थान पर गए थे तब तक यह नगर ध्वस्त हो चुका था। कहा जाता है कि ई. पू. पांचवीं शताब्दी में कोशल की राजधानी साकेत का महत्त्व कम हो गया था और उसके स्थान पर श्रावस्ती को राजधानी होने का सौभाग्य मिला था।[२] वहां राजा प्रसेनजित् राज्य करता था।

श्रावस्ती महात्मा बुद्ध के विहार की उत्तरीय सीमा थी। यह ब्राह्मणों से अप्रभावित क्षेत्र था, अतः श्रमण-संस्कृति को यहां पनपने का अवसर मिला।

श्रावस्ती से राजगृह पैंतालीस योजन अथवा १३५ मील की दूरी पर था। एक मार्ग श्रावस्ती से राजगृह को किटागिरि और आलवि होते हुए जाता था, जिसकी दूरी तीस योजन अथवा नब्बे मील की थी[३] और बनारस से वह दूरी बारह योजन थी।[४] एक मार्ग खेतवा, कपिलवस्तु, कुसिनारा, पावा, मोगनगर और वैशाली होते हुए राजगृह को जाता था।[५]

श्रावस्ती और साकेत के बीच एक चौड़ी नदी, संभवतः घाघरा बहती थी। इन दोनों नगरों की दूरी सात योजन अथवा इक्कीस मील की थी।[६] कई इसको पैंतीस मील भी मानते हैं।[७] दोनों नगरों के बीच 'तोरणवत्थु' नाम का ग्राम था।[८] श्रावस्ती से 'संकिसा'[९] तीस योजन दूर थी।[१०]

प्राचीन भारत में सड़कों के किनारे बड़े-बड़े नगर स्थापित थे। उनमें चम्पा, राजगृह, वैशाली, अयोध्या, श्रावस्ती आदि मुख्य थे। ये व्यवसाय के बड़े केन्द्र थे। एक बड़ी सड़क श्रावस्ती से प्रतिष्ठान तक जाती थी। इस पर

१. **Political History of Ancient India, p. 169.**
२. उत्तरप्रदेश में बौद्धधर्म का विकास, पृ. ५।
३. विनयपिटक, भाग २, पृ. १७०-७५।
४. वाटर्स सृ. २,६१; फाहियान पृ. ६०-६२।
५. उत्तरप्रदेश में बौद्धधर्म का विकास, पृ. १३।
६. विनयपिटक भाग-१, पृ. २५३।
७. भारत के प्राचीनतीर्थ, पृ. ३९।
८. उत्तरप्रदेश में बौद्धधर्म का विकास, पृ. ७।
९. इसकी पहचान कम्बोज से ४५ मील पर अतरंजी और कन्नौज के बीच संकिसा–बसंतपुर से की गई।
१०. जातक ४, पृ. २६५।

साकेत, कौशाम्बी, विदिशा, गोनर्द, उज्जैनी तथा माहिष्मती आदि बड़े नगर थे। दूसरा बड़ा मार्ग श्रावस्ती से राजगृह तक जाता था। व्यापारी लोग श्रावस्ती से तराई में होते हुए वैशाली के उत्तर में पहुंचते थे।[१] महात्मा बुद्ध ने अनेक वर्षावास यहां बिताये थे। आनन्द ने बुद्ध से अपने परिनिर्वाण के लिए चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी और वाराणसी—इन छह नगरों में से किसी एक को चुनने की प्रार्थना की थी।[२] चुल्लवग्ग के दस परिच्छेदों में से चार का संग्रह यहीं हुआ था।[३]

राईस डेविड्स ने बौद्ध-ग्रन्थों के आधार पर भारत के मुख्य स्थल-मार्गों का उल्लेख किया है। उसमें सर्वाधिक महत्त्व श्रावस्ती और कौशाम्बी नगर को प्राप्त था। जैसे—

१. उत्तर से दक्षिण-पश्चिम को

यह मार्ग श्रावस्ती से प्रतिष्ठानपुर (दक्षिण का एक नगर) को जाता था। इस मार्ग में प्रधानतः निम्नोक्त पड़ाव आते थे—प्रतिष्ठानपुर से चलकर माहिष्मती, उज्जैनी, गोनर्द, विदिशा, कौशाम्बी, साकेत होते हुए श्रावस्ती पहुंचते थे।

२. उत्तर से दक्षिण-पूर्व को

यह मार्ग श्रावस्ती से राजगृह को जाता था। यह रास्ता सीधा नहीं था, अपितु श्रावस्ती से हिमालय के समीप-समीप होता हुआ वैशाली के उत्तर में हिमालय की उपत्यका में पहुंच वहां से दक्षिण की ओर मुड़ता था। इस रास्ते में कपिलवत्थु, कुशिनारा, पावा, हत्थिगाम, भण्डगाम, वैशाली, पाटलीपुत्र और नालन्दा आदि नगर आते थे। यहां संभवतः पैंतालीस योजन लम्बा रास्ता था।[४]

३. पूर्व से पश्चिम

यह मार्ग गंगा और यमुना के साथ-साथ चलता था। गंगा नदी में 'सहजाती' नामक नगर तक तथा यमुना में कौशाम्बी तक जहाज आया-जाया

---

१. **उत्तरप्रदेश में बौद्धधर्म का विकास, पृ. २३।**
२. **दीघनिकाय २, पृ. १४६,१६९।**
३. **उत्तरप्रदेश में बौद्धधर्म का विकास, पृ. १७१।**
४. **उत्तरप्रदेश में बौद्धधर्म का विकास, पृ. १३१।**

करते थे। इस मार्ग पर कौशाम्बी का अत्यन्त महत्त्व था। जहाज से सारा माल यहां उतारा जाता था और फिर उसे गाड़ियों से लादकर उत्तर या दक्षिण में पहुंचाया जाता था।[१]

फाहियान साकेत से श्रावस्ती गया था। उस समय यहां बस्ती बहुत कम थी।

विष्णुपुराण के अनुसार सूर्यवंशी राजा श्रवस्त या श्रावस्तक के द्वारा इसकी स्थापना हुई।[२] पाली टीकाओं में इस नगर का व्युत्पत्तिक अर्थ करते हुए लिखा है कि—'जहां मनुष्य के उपभोग-परिभोग के लिए सब कुछ उपलब्ध होता हो उसे 'सावत्थी' कहते हैं।' 'क्या वह भाण्ड है?' ऐसा पूछे जाने पर **'सव्वं अत्थी'**—सब कुछ है—ऐसा कहा जाता था, अतः इस नगर को **'सावत्थी'** कहा गया।[३]

श्रावस्ती का ही बिगड़ा हुआ रूप 'सहेत' है।[४] उत्तरभारत के छह प्रमुख नगरों में इसकी गणना थी।[५] यह प्रमुख मार्ग पर स्थित होने के कारण औद्योगिक नगरों में प्रमुख था। आयात-निर्यात का यह प्रमुख केन्द्र था। सुदत्त महासेट्ठि (अनाथपिंडिक) ने श्रावस्ती नगरी के दक्षिण, एक मील दूर, राजकुमार जेत के उद्यान को बहुत बड़े मूल्य में लेकर महात्मा बुद्ध के निवास के लिए *एक विहार का निर्माण कराया। उसे **'जेतवन विहार'** कहा गया। महात्मा बुद्ध यहां पचीस वर्ष तक रहे। यहां हजारों भिक्षु रहते थे। अधिकांश जातक कथाएं* महात्मा बुद्ध ने यहां के दीर्घ निवास काल में कही थी।

श्रावस्ती से तीस योजन पर संकस्स (सांकाश्य) नगर था। इस नगर की पहिचान 'संकिसा' से की गई है, जो फर्रुखाबाद जिले में एक छोटा गांव है। यह फतेहगढ़ से तेईस मील पश्चिम और कन्नौज से पैंतालीस मील उत्तर-

---

१. **भारतीय संस्कृति, पृ. १९१,९२**
२. **अध्याय २, अंश ४।**
३. **पपंचसूदनी १ पृ ५९—यं किं च मनुस्सानं उपभोग-परिभोगं सव्वं एत्थ अत्थीति—सावत्थी। सत्थ समायोगे च 'किं भण्डं अत्थीति' पुच्छिते 'सव्वं अत्थीति' वचनमुपादाय सावत्थी।**
४. **यहां एक महाश्रेष्ठी सुदत्त रहता था। उसी के नाम पर इसका नाम 'सहेत' हुआ, ऐसी अनुश्रुति है।**
५. ***छह नगर—चम्पा, राजगृह, साकेत, कौशाम्बी, श्रावस्ती तथा वाराणसी।***

पश्चिम है।[१] धम्मपट्ठकथा में लिखा है कि मच्छिकासंड 'सावत्थी' से तीस योजन (९० मील) दूर था। सावत्थी से राजगृह जाते हुए तीस योजन की दूरी पर 'आलवि' नगर था। कन्निंघम ने इसकी पहचान उन्नाव जिले के 'बेवल' स्थान से की है और एन. एल. डे ने इटावा के पास आबिसा से।[२]

कुषाणकाल (ई. १५-२३०) में भी श्रावस्ती उत्तरभारत का प्रमुख नगर था। धीरे-धीरे इसकी अवनति प्रारंभ हुई। पांचवीं शती के प्रारंभ में (५०४-११) फाहियान जब भारत-भ्रमण के लिए आया था तब देखा कि नगर का ध्वंस हो चुका था। वहां केवल दो सौ परिवार रहते हैं। विहारों के स्थान पर नए मंदिर बन चुके हैं। उसने 'जेतवन विहार' को सात मंजिली इमारत कहा है और लिखा है कि अकस्मात् आग लग जाने के कारण वह नष्ट हो गया।[३]

सातवीं सदी (६२९-४५) में हुएनसांग जब श्रावस्ती आया तब उसने इस नगर को बिलकुल उजड़ा हुआ पाया। वहां बौद्ध संघारामों की संख्या कई सौ थी, पर वे सभी निर्जन थे। देवमन्दिरों की संख्या सौ के आसपास थी। उसने भग्नावशेषों का उल्लेख किया है।[४]

बारहवीं शताब्दी तक यहां बौद्ध भिक्षु रहते थे। उन्हें कन्नौज शासन का संरक्षण प्राप्त था।

ई. १८६३ में जनरल कनिंघम ने सहेत-महेत के कुछ भाग की खुदाई कर कुछ तथ्य प्रगट किए। पश्चात् १८७६ में पुनः उत्खनन कार्य प्रारंभ हुआ। डॉ. हॉय ने १८७५-७६ में महेत की खुदाई का कार्य किया। उन्हें यहां जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएं मिलीं। पुनः १८८४-८५ में उत्खनन हुआ। उसके फलस्वरूप उन्हें चौंतीस प्राचीन इमारतों के ध्वंसावशेष प्राप्त हुए।[५] भारत सरकार के पुरातत्त्वविभाग द्वारा पुनः १९०७-८ तथा १९१०-११ में खुदाई हुई।[६]

---

१. उत्तरप्रदेश में बौद्धधर्म का विकास, पृ.८।

२. वही, पृ. ८।

३. उत्तरप्रदेश में बौद्धधर्म का विकास, पृ. २७२।

४. वही, पृ. २७२।

५. डब्ल्यू हॉय, 'सेत-महेत',–Journal of the royal asiatic society of bangal –जिल्द ६१, भाग १ (१८९२), पृ. १-६९।

६. Archiological Survey of India, Annual report 1907-08 p. 81 तथा आगे...

श्रावस्ती राप्ती (अचिरावती) नदी के किनारे स्थित थी। आवश्यकचूर्णि (पृ. ६०१) के अनुसार वह नगरी नदी के भयंकर बाढ़ से बह गई थी। बाढ़ आने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है–'कुणाला में कुरुण्ट और उत्कुरुण्ट नाम के दो आचार्य नालियों के मुहानों पर रहते थे। एक बार नागरिकों ने उन्हें स्थान-च्युत कर दिया। क्रोधावेश में श्राप देते हुए आचार्य कुरुण्ट ने कहा–'हे देव! कुणाला पर बरसो।' आचार्य उत्कुरुण्ट ने कहा–'पन्द्रह दिन तक।' कुरुण्ट ने पुनः कहा–'रात और दिन।' दोनों आचार्य नगर छोड़कर चले गए। श्राप के फलस्वरूप पन्द्रह दिन तक घनघोर वर्षा हुई। कुणाल जनपद बह गया। श्रावस्ती नगरी का तहस-नहस हो गया।[१] कहा जाता है कि श्रावस्ती के महासेट्ठि सुदत्त के अठारह करोड़ रुपये अचिरावती नदी के किनारे गड़े हुए थे। बाढ़ के कारण सारा खजाना बह गया।[२]

भगवान् महावीर ने दसवां वर्षावास यहां बिताया था। उत्पाटित तिल के पौधे को पुनः उगा हुआ देखकर गोशाला नियतिवादी हो गया। वह भगवान् से अलग हो श्रावस्ती में एक कुम्हार की शाला में ठहरा और भगवान् महावीर द्वारा निर्दिष्ट विधि से तेजोलेश्या की प्राप्ति के लिए साधना करने लगा। छह महीने की साधना से उसे तेजोलब्धि की प्राप्ति हो गई। उसके प्रत्यय के लिए उसने एक घट-दासी पर उसका प्रयोग किया। वह तत्काल जल कर भस्म हो गई। उसे अपनी लब्धि की प्रामाणिकता पर विश्वास हो गया।[३]

गोशाला के चले जाने पर भगवान् अकेले ही वैशाली पहुंचे। वहां से वाणिज्यग्राम जाते हुए नावा से गण्डकी नदी पार की। वाणिज्यग्राम में आनन्द नामक श्रमणोपासक, जो बेले-बेले की तपस्या करता था, को अवधिज्ञान प्राप्त हुआ। उसने भगवान् के दर्शन किए। वहां से प्रस्थान कर भगवान् श्रावस्ती पहुंचे और वहां दसवां वर्षावास बिताया। वहां विचित्र प्रकार की तपस्या की। चतुर्मास पूर्ण होने पर भगवान् 'सानुलट्ठिग्राम' में गए और वहां भद्रप्रतिमा, महाभद्रप्रतिमा और सर्वतोभद्रप्रतिमा का अनुष्ठान किया।[४]

एक बार भगवान् महावीर पृष्ठचम्पा में कुछ समय तक आवास कर (कई

---

१. **Sravasti in Ancient literature p. 31, by vimalcharan law.**

२. **Barliagama Buddhist legends, vol. 2, p. 268.**

३. **आव. वृ. मलयगिरि पत्र २८७।**

४. **आव. निर्युक्ति गाथा ४९५ वृत्तिपत्र २८७-८८।**

मानते हैं कि वहां वर्षावास बिताकर) श्रावस्ती आए। गांव के बाहर एक उद्यान में ठहरे और वहां प्रतिमा में स्थित हो गए। गोशालक भगवान् के पास आया और पूछा—आज मुझे क्या आहार मिलेगा? भगवान् के मुख से ये शब्द सुनाई दिए—'तुझे आज भिक्षा में मनुष्य का मांस मिलेगा।' उसने कहा—'आज मुझे जहां भिक्षा लेनी है, वहां मांस का अवकाश ही नहीं है, मनुष्य के मांस की तो बात ही दूर रही।'[१]

श्रावस्ती के पास हरिभद्रक नाम का गांव था, जहां एक अति विशाल हरिद्रक वृक्ष था। श्रावस्ती में आने-जाने वाले लोग यहां विश्राम के लिए ठहरते थे। बड़े-बड़े सार्थ यहां रात्रीवास करते थे।[२]

उस काल में श्रावस्ती में अनेक लोग भगवान् को नहीं मानते थे। वे 'स्कन्द-प्रतिमा' की पूजा-अर्चा करते थे। एक बार भगवान् 'आलभिका' नगरी से 'श्रावस्ती' आये। बहिर्भाग के एक उद्यान में ठहरे और 'प्रतिमा' में स्थित हो गए। लोगों ने उनकी भक्ति नहीं की। देवेन्द्र ने यह देख स्कन्द-प्रतिमा में प्रवेश कर भगवान् को वन्दना की। पश्चात् लोगों ने भी भगवान् की स्तुति की।[३]

हस्तिनापुर[४]

राजा चेति के पुत्रों ने हस्तिपुर बसाया था। हस्तिपुर ही आगे चलकर हस्तिनापुर हो गया। इसका दूसरा नाम 'नागपुर' था।[५] वसुदेव हिण्डी में इसे 'ब्रह्मस्थल' कहा है। वर्तमान में यह स्थान मेरठ जिले में 'मवाने' के पास इसी नाम से प्रसिद्ध है।[६] जैन सूत्रों के अनुसार यह 'कुरु' जनपद की राजधानी मानी जाती थी। जातक के अनुसार 'कुरु' की राजधानी यमुना के किनारे बसा हुआ कुरुम्मा इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) थी।

एक बार गंगा में बाढ़ आ जाने के कारण हस्तिनापुर नष्ट हो गया था। तब राजा परीक्षित के उत्तराधिकारियों ने कौशाम्बी को अपनी राजधानी बनाया। पाली-साहित्य में इसका नाम 'हत्थिपुर' या 'हत्थिनीपुर' आता है।

१. आवश्यक, मलयगिरि वृत्ति पत्र २७९-८०।
२. वही, पत्र २९३।
३. आव. मल. वृ. पत्र २९३।
४. उत्तराध्ययन १३।१।
५. भारत के प्राचीन जैनतीर्थ, पृ. ४६।
६. बुद्धकालीन भारत का भौगोलिक परिचय, पृ. ६,७।

ठाणं सूत्र में दस राजधानियों के नाम गिनाये हैं। उनमें हस्तिनापुर भी एक है।[1]

विदेह[2]

इसकी पहचान वर्तमान के 'तिरहुत' प्रदेश से की जाती है। इसके पूर्व में कोशी नदी, पश्चिम में गण्डक, उत्तर में हिमालय और दक्षिण में गंगा नदी बहती थी। यह वैशाली के उत्तर में था। इसकी राजधानी 'मिथिला' थी।[3] बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार वैशाली विदेह की राजधानी थी। वैशाली लिच्छवियों का केन्द्र था। राजा चेटक वैशाली का था। भगवान् महावीर की माता त्रिशला राजा चेटक की बहिन थी। इसीलिए भगवान् महावीर को स्थान-स्थान पर 'वैशालीय' कहा गया है। भगवान् महावीर ने यहां बारह चतुर्मास किए थे। यह मध्यप्रदेश का प्रधान नगर था। इसका दूसरा नाम 'वाणियगाम' था।

३१. उत्तराध्ययन और परीषह

उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्ययन में मुनि के परीषहों का निरूपण है। कर्मप्रवाद पूर्व के १७वें प्राभृत में परीषहों का वय और उदाहरण सहित निरूपण है। वही यहां उद्धृत किया गया है। यह निर्युक्तिकार का अभिमत है।[4] दशवैकालिक सूत्र के सभी अध्ययन जिस प्रकार पूर्वों से उद्धृत हैं उसी प्रकार उत्तराध्ययन का यह अध्ययन पूर्व से उद्धृत है।

जो सहा जाता है उसका नाम है 'परीषह'। सहने के दो प्रयोजन हैं—मार्गाच्यवन और निर्जरा। स्वीकृत मार्ग से च्युत न होने के लिए कुछ सहा जाता है और कुछ सहा जाता है निर्जरा के लिए।[5]

---

१. चम्पा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ती, साकेत, हस्तिनापुर, कांपिल्य, मिथिला, कौशाम्बी और राजगृह। (१०।२७)।

२. उत्तराध्ययन, १८।७५।

३. देखें—मिथिला।

४. उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा ७०।
कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुडम्मि जं सुत्तं।
सणयं सउदाहरणं तं चेव इहं पि णातव्वं।।

५. मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः—तत्त्वार्थसूत्र ९।८।

भगवान् महावीर की धर्म-प्ररूपणा के दो मुख्य अंग हैं—अहिंसा और कष्ट सहिष्णुता।[1] कष्ट सहने का अर्थ शरीर, इन्द्रिय और मन को पीड़ित करना नहीं है, किन्तु अहिंसा आदि धर्मों की आराधना को सुस्थिर बनाए रखना है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

सुहेण भावियं नाणं, दुहे जादे विणस्सहि।
तम्हा जहावलं जोई, अप्पा दुक्खेहिं भावए।।[2]

'सुख से भावित ज्ञान दुःख उत्पन्न होने पर नष्ट हो जाता है, इसलिए योगी को यथाशक्ति अपने आपको दुःख से भावित करना चाहिये।' इसका अर्थ काया को क्लेश देना नहीं है। यद्यपि एक सीमित अर्थ में काया-क्लेश भी तपरूप में स्वीकृत है, फिर भी परीषह और काय क्लेश एक नहीं है। काय-क्लेश आसन करने, ग्रीष्म ऋतु में आतापना लेने, वर्षा ऋतु में तरुमूल में निवास करने, शीत ऋतु में अपावृत्त स्थान में सोने और नाना प्रकार की प्रतिमाओं को स्वीकार करने, न खुजलाने, शरीर की विभूषा न करने के अर्थ में स्वीकृत है।[3]

परीषह और कायक्लेश

उक्त प्रकारों में से कोई कष्ट जो स्वयं इच्छानुसार झेला जाता है वह 'कायक्लेश' है और जो इच्छा के बिना प्राप्त होता है वह 'परीषह' है।[4]

कायक्लेश के अभ्यास से शारीरिक दुःख सहने की क्षमता, शारीरिक दुःखों के प्रति अनाकांक्षा और क्वचिद् जिनशासन की प्रभावना भी होती है।[5]

परीषह सहने से स्वीकृत अहिंसा आदि धर्मों की सुरक्षा होती है। परीषह बाईस हैं[6]—

१. क्षुधा २. पिपासा ३. शीत ४. उष्ण ५. दंश-मशक ६. अचेल ७. अरति ८. स्त्री ९. चर्या १०. निषधा ११. शय्या १२. आक्रोश १३. वध

---

१. अणु धम्मो मुणिणा पवेइओ—सूत्रकृतांग १।५।
२. षट् प्राभृत—मोक्षप्राभृत ६२।
३. उत्तराध्ययन ३०।२७, औपपातिक सूत्र ३०।
४. तत्त्वार्थसूत्र ९।१९, श्रुतसागरीय वृत्ति, पत्र ३०१।
'यदृच्छया समागतः परीषहः, स्वयमेव कृतः कायक्लेशः'।
५. वही पत्र ३०१।
६. उत्तराध्ययन, २, तत्त्वार्थसूत्र ९।९।

१४. याचना १५. अलाभ १६. रोग १७. तृण-स्पर्श १८. मल १९. सत्कार-पुरस्कार २०. प्रज्ञा २१. अज्ञान २२. दर्शन।

इनमें दर्शन-परीषह और प्रज्ञा-परीषह ये दो मार्ग से अच्यवन में सहायक होते हैं और शेष बीस परीषह निर्जरा के लिए होते हैं।[१]

परीषहों का स्वरूप और उनकी विजय के उपाय

१. क्षुधा-परीषह

मुनि भूख को सहन करे, किन्तु उसे मिटाने के लिए पचन-पाचन आदि न करे।

मुनि निरवद्य आहार की एषणा करता है। आहार के न मिलने पर या थोड़ा मिलने पर भी वह अकाल और अयोग्य देश में आहार-ग्रहण नहीं करता, छह आवश्यकों की थोड़ी भी हानि नहीं करता, सदा ज्ञान-ध्यान और भावना में लीन रहता है, अनेक बार अनशन, अवमौदर्य आदि करने से तथा नीरस भोजन के सेवन से जिसका शरीर सूख गया है, क्षुधा की वेदना होने पर भी जो उसकी चिन्ता नहीं करता और जो भिक्षा के अलाभ को भी अपने लिए मान लेता है वह क्षुधापरीषह पर विजय पा लेता है।

२. पिपासा-परीषह

मुनि प्यास को सहन करे किन्तु उसे शान्त करने के लिए सचित्त जल का सेवन न करे।

जो मुनि स्नान का सर्वथा त्याग करता है, जो अतिक्षार, अतिस्निग्ध, अतिरूक्ष और अत्यन्तविरुद्ध भोजन के द्वारा तथा गर्मी, आतप, दाहज्वर और उपवास आदि के द्वारा तीव्र प्यास लगने पर सचित्त जल पीकर उसका प्रतिकार *नहीं करता, किन्तु उसे समभाव से सहता है, वह* पिपासापरीषह पर विजय पा लेता है।

३. शीत-परीषह

मुनि शीत को सहन करे, किन्तु उसके निवारण के लिए अग्नि का सेवन न करे।

---

१. **तत्र मार्गाच्यवनार्थं दर्शनपरीषहः प्रज्ञा परीषहश्च, शेषा विंशतिर्निर्जरार्थम्–प्रवचनसारोद्धार, वृत्तिपत्र १९२।**

जो मुनि वस्त्रों का त्यागी है, जो अनियतवासो है, जो वृक्ष-मूल, पर्वत और चतुष्पथ में वास करता है, जो वायु और हिम की ठंड को समभाव से सहता है[१], जो न स्वयं अग्नि जलाता है और न दूसरों द्वारा जलाई गई अग्नि का सेवन करता है, जो जीर्ण-वस्त्र हो जाने पर भी शीत से बचने के लिए अकल्पनीय वस्त्रों को ग्रहण नहीं करता[२], वह शीतपरीषह पर विजय पा लेता है।

४. उष्ण-परीषह

मुनि गर्मी को सहन करे, किन्तु उसके निवारण के लिए जलावगाहन, स्नान, पंखे से हवा लेने तथा छत्र धारण करने की इच्छा न करे।

जो मुनि वायु और जल-रहित प्रदेश में पत्रों से रहित सूखे वृक्ष के नीचे या पर्वतों की गुफाओं में ग्रीष्म ऋतु में ध्यान करता है, असाध्य पित्तोत्पत्ति के कारण जिसके अन्तर्दाह उत्पन्न हो जाता है, दावानल के दाह जैसी गर्म वायु से जिसका कंठ सूख जाता है, फिर भी जो उसके प्रतिकार के लिए (सचित्त) आम्रपानक आदि का स्मरण नहीं करता, गर्मी से अत्यन्त तप्त होने पर भी जलावगाह, स्नान, व्यजन आदि की इच्छा नहीं करता और जो आतप से बचने के लिये छत्र आदि भी धारण नहीं करता, किन्तु गर्मी को समभाव से सहता है, वह उष्णपरीषह पर विजय पा लेता है।

५. दंशमशक-परीषह

मुनि दंश-मशक आदि के द्वारा काटे जाने पर वेदना को सहन करे, किन्तु उसके निवारण के लिए दंश-मशकों को संत्रस्त न करे, मन में भी उनके प्रति द्वेष न लाए, उनकी उपेक्षा करे पर हनन न करे।

दंश-मशक, कीड़े, मकोड़े, मत्कुण, बिच्छू आदि के काटने पर भी जो स्थान को नहीं छोड़ता, दंश-मशक को हटाने के लिए धुएं या पंखे का प्रयोग नहीं करता, उन्हें बाधा नहीं पहुंचाता, वह दंश-मशक-परीषह पर विजय पा लेता है।

६. अचेल-परीषह

मुनि अचेलपरीषह को सहन करे। 'वस्त्र फट गए हैं, इसलिए मैं अचेल

---

१. तत्त्वार्थसूत्र—श्रुतसागरीय वृत्तिपृ. २९८।

२. प्रवचनसारोद्धार, वृत्तिपत्र १९३।

हो जाऊंगा अथवा वस्त्र मिलने पर फिर मैं सचेल हो जाऊंगा'—ऐसा न सोचे, दीन और हर्ष दोनों प्रकार का भाव न लाए।

श्वेताम्बर ग्रंथों में **'अचेल'**[१] परीषह का उल्लेख है और दिगम्बर ग्रंथों में **'नाग्न्य'**[२] परीषह का।

अचेल के दो अर्थ हैं—नाग्न्य और फटे हुए तथा अल्प मूल्य वाले वस्त्र। जिनकल्पिक मुनि नग्न रहते हैं और स्थविरकल्पिक मुनि फटे हुए या अल्प मूल्य वाले वस्त्र धारण करते हैं। मुनि अल्प मूल्य वाले, खंडित तथा मैले वस्त्र धारण करे। अपने मनोनुकूल वस्त्र न मिलने पर दीन न बने, 'कभी वैसे मिल जाएंगे' ऐसा विचार कर हर्षित भी न हो।[३]

७. अरति-परीषह

मुनि संयम के प्रति उत्पन्न अधैर्य को सहन करे। विहार करते हुए या एक स्थान में रहते हुए अरति उत्पन्न हो जाए तो सम्यग् धर्म की आराधना से उसका निवारण करे।

अरति का अर्थ है—संयम में अधृति। जो मुनि इन्द्रिय-विषयों के प्रति उदासीन रहता है, जो शून्यगृह, देवमन्दिर, वृक्ष-कोटर, कन्दरा आदि में रहता है, जो स्वाध्याय, ध्यान और भावना में रति करता है, जो सभी प्राणियों के प्रति कारुणिक होता है जो दृष्ट-श्रुत या अनुभूत भोगों का स्मरण नहीं करता, जो भोग-कथाओं का श्रवण नहीं करता, वह अरतिपरीषह पर विजय पा लेता है।

८. स्त्री-परीषह

मुनि स्त्रीसंबंधी परीषह को सहन करे। स्त्रियों के प्रति आसक्त न हो, ब्रह्मचारी के लिये स्त्रियां संग हैं, लेप हैं—ऐसा मान उनसे संयम-जीवन का घात न होने दे। स्त्रियां अखंड ब्रह्मचर्य में बाधक हैं—ऐसा माने।

जो मुनि स्त्रियों के भ्रूविलास, नेत्रविकार और श्रृंगार आदि को देखकर मन में विकार उत्पन्न होने नहीं देता, जो अपने मन को विक्षिप्त करने वाली स्त्रियों की चेष्टाओं का चिन्तन नहीं करता, जो कामबुद्धि से उन्हें नहीं देखता,

१. **प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६८५।**
२. **तत्त्वार्थसूत्र ९।९।**
३. **प्रवचनसारोद्धार, वृत्तिपत्र १९३।**

जो सदा कच्छप की भांति इन्द्रियों और मन का संयमन करता है, वह स्त्रीपरीषह पर विजय पा लेता है।

९. चर्या-परीषह

मुनि चर्या से उत्पन्न कष्ट को सहन करे। मुनि ममत्व न करे, गृहस्थों से निर्लिप्त रहे, अनिकेत रहता हुआ परिव्रजन करे।

जो मुनि चिरकाल तक गुरुकुल में रहता है, बन्ध-मोक्ष आदि का मर्म जानता है, जो संयम के लिए यतिजन की विनय-भक्ति के लिये तथा गुरु की आज्ञा से देशान्तर जाता है, जो वायु की तरह निस्संग होता है, जो काय-क्लेश को सहता है, जो देश-काल के अनुसार संयम के प्रति अविरुद्ध गमन करता है, जो कण्टक आदि की बाधाओं को बाधा नहीं मानता, जो गृहस्थावस्था में प्रयुक्त वाहन आदि का चिन्तन नहीं करता, जो अप्रतिबद्ध विहारी होता है, जो ग्राम, नगर, कुल आदि के ममत्व में नहीं बंधता, वह चर्यापरीषह पर विजय पा लेता है।

१०. निषधा[१]-परीषह

मुनि निषधा से उत्पन्न कष्ट को सहन करे, राग-द्वेष रहित हो, अशिष्ट-चेष्टाओं का वर्जन करता हुआ बैठे, किसी को त्रास न दे।

जो मुनि श्मशान, वन, पर्वतों की गुफाओं में निवास करता है, जो सिंह-हाथी आदि के शब्दों को सुनकर भयभीत नहीं होता, जो नियतकाल के लिए वीरासन, कुक्कुटासन आदि आसन (निषधा) को ग्रहण करता है, परन्तु देव, तिर्यंच, मनुष्य और अचेतन पदार्थों से उत्पन्न उपसर्गों से विचलित नहीं होता—अपकार की शंका से डरकर स्थान को नहीं छोड़ता और जो मंत्र आदि के द्वारा किसी भी प्रकार का प्रतिकार नहीं करता, वह निषधापरीषह पर विजय पा लेता है।

११. शय्या-परीषह

मुनि शय्या से उत्पन्न परीषह को सहन करे, किन्तु उत्कृष्ट या निकृष्ट उपाश्रय को पाकर मर्यादा का अतिक्रमण न करे—हर्ष या शोक न लाए। एक

---

१. प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६८५ में 'नैषेधिकी' परीषह माना है और टीकाकार ने (पत्र १९३ में) विकल्प में निषधा-परीषह को मानकर दोनों की व्याख्या की है।

रात में क्या होना जाना है—यह साच कर जो भी सुख-दुःख हो उसे सहन करे।

जो मुनि ऊंची, नीची, कठोर, कंकर, बालू आदि से युक्त भूमि पर एक करवट से लकड़ी-पत्थर की तरह निश्चल सोता है, भूत-प्रेत आदि के द्वारा अनेक उपसर्ग किये जाने पर भी जो शरीर को चंचल नहीं करता, सिंह आदि से आक्रान्त स्थान को भय से छोड़कर नहीं जाता, जो सम-विषम आंगन वाले धूल से भरे हुए अत्यन्त ठंडे तथा अत्यन्त गर्म उपाश्रय को तथा मृदु-कठिन या ऊंचा-नीचा संस्तारक पाकर उद्विग्न नहीं होता, वह शय्यापरीषह पर विजय पा लेता है।

१२. आक्रोश-परीषह

मुनि आक्रोश को सहन करे। जो गाली दे उसके प्रति क्रोध न करे। परुष, दारुण और प्रतिकूल वचन सुनकर भी मौन रहे, उसकी उपेक्षा करे, मन में न लाए।

जो मुनि दुष्ट तथा अज्ञानीजनों द्वारा कहे गये कठोर तथा निन्दा के वचनों को सुनकर क्रोधित नहीं होता। जो प्रतिकार करने का सामर्थ्य रखने पर भी प्रतिकार नहीं करता, जो यह सोचता है कि जो यह व्यक्ति कह रहा है वह यदि सत्य है तो यह मेरा उपकारी है, और यदि उसका कथन असत्य है तो मेरे क्रोध करने से क्या लाभ?—वह आक्रोशपरीषह पर विजय पा लेता है।

१३. वध-परीषह

मुनि ताड़ना को सहन करे। **'आत्मा शरीर से भिन्न है, आत्मा का नाश नहीं होता'**—ऐसा विचार करे।

जो मुनि शस्त्रास्त्रों से आहत होने पर भी द्वेष नहीं करता, परन्तु शरीर और आत्मा के पार्थक्य का चिन्तन करता है, जो ताड़ना-तर्जना को अपने कर्मों का विपाक मानता है, जो यह सोचता है—

आक्रुष्टोऽहं हतो नैव, हतो वा न द्विधाकृतः।
मारितो न हृतो धर्मो, मदीयोऽनेन बन्धुना॥

इस व्यक्ति ने मुझे गाली दी है, पीटा तो नहीं, इसने मुझे पीटा है, मारा तो नहीं, इसने मुझे मारा है पर मेरा धर्म तो नहीं छीना, ऐसा चिन्तन करता हुआ, वह वधपरीषह पर विजय पा लेता है।

१४. याचना-परीषह

मुनि याचना से उत्पन्न लज्जा आदि के कष्टों को सहन करे। मुनि को प्रत्येक वस्तु याचित ही मिलती है। अपनी शालीनता के कारण उसे याचना करने में लज्जा का अनुभव होता है, परन्तु कार्य उपस्थित होने पर अपने धर्म-शरीर की रक्षा के लिए अवश्य याचना करे।

तपस्या के द्वारा शरीर सूख जाने पर, अस्थिपंजर मात्र शरीर शेष रहने पर भी जो मुनि दीन वचन, मुख-वैवर्ण्य आदि-आदि संज्ञाओं द्वारा भोजन आदि पदार्थों की याचना नहीं करता, वह याचनापरीषह पर विजय पा लेता है।

१५. अलाभ-परीषह

मुनि अलाभ को सहन करे। अभिलषित वस्तु की प्राप्ति न होने पर दीन न बने।

जो मुनि अनेक दिनों तक आहार की प्राप्ति होने पर भी मन में खिन्न नहीं होता, जो लाभ से अलाभ अच्छा है—तप का हेतु है, ऐसा मानता है, जो न मिलने पर दीन नहीं होता, जो ऐसा सोचता है कि गृहस्थ के घर में अनेक पदार्थ होते हैं, वह उन्हें दे या न दे—यह उसकी अपनी इच्छा है, वह अलाभ-परीषह पर विजय पा लेता है।

१६. रोग-परीषह

मुनि रोग की वेदना को समभाव से सहन करे। दीन न बने। व्याधि से विचलित होती हुई प्रज्ञा को स्थिर बनाए और प्राप्त दुःख को प्रसन्नता से सहे।

जो मुनि शरीर को अशुचि प्रधान, अत्राण और अनित्य मानता है, जो शरीर का परिकर्म नहीं करता, जो शरीर को संयम-पालन का साधन मानकर उसकी रक्षा के लिए अनासक्त भाव से भोजन करता है, जो कभी अपथ्य आहार के सेवन से रोग होने पर भी अधीर नहीं होता, जो रोग का उपशमन करने वाली लब्धियों से सम्पन्न होने पर भी, काम-निस्पृह होने के कारण, उनका प्रयोग नहीं करता, जो चिकित्सा को आवश्यकता होने पर शास्त्रोक्त-विधि से वर्तन करता है, वह रोगपरीषह पर विजय पा लेता है।

मूल सूत्रों में कहा है—**'चिकित्सा का अभिनन्दन न करे।'**[१] प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति में लिखा है कि चिकित्सा की आवश्यकता होने पर शास्त्रोक्तविधि

१. उत्तराध्ययन २।३३।

से वर्तन करे।[१] किन्तु यह शास्त्रोक्त विधि क्या है? इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

१७. तृण-स्पर्श-परीषह

मुनि तृण आदि के स्पर्श से उत्पन्न वेदना को सहन करे। उसकी चुभन और गर्मी से पीड़ित हो वस्त्र का सेवन न करे।

'मुनि चर्या, शय्या और निषधा में प्राणी-हिंसा का वर्जन करता हुआ सदा अप्रमत्त रहे और तृण, कांटे आदि से उत्पन्न वेदना को समभाव से सहे।[२]

'गच्छनिर्गत या गच्छवासी मुनि उन तृणों को कुछ गीली भूमि पर बिछा कर संस्तारक और उत्तरपट्टक को उस पर रख कर सोते हैं अथवा जिन मुनियों के वस्त्र चोरों ने अपहरण कर लिये हों वे मुनि अत्यन्त जीर्ण या छोटे से वस्त्र को उस बिछी हुई घास पर बिछा कर सोते हैं तब दर्भ के अत्यन्त तीक्ष्ण अग्रभाग से उनके शरीर में पीड़ा उत्पन्न होती है।[३] जो उस वेदना से अधीर नहीं होता, वह तृणस्पर्श-परीषह पर विजय पा लेता है।

यह वस्त्र बिछाने की विधि भी उत्तरकालीन हो सकती है। मूल में यह आशय प्राप्त नहीं है।

१८. मल-परीषह

मुनि मल, रज या ग्रीष्म के परिताप से शरीर के क्लिन्न हो जाने पर सुख के लिए विलाप न करे।

मुनि जीवनपर्यन्त अस्नान व्रतधारी होता है। शरीर में पसीना आने पर और उस पर धूल जम जाने पर भी नहीं खुजलाता, जो ऐसा विचार नहीं करता कि मेरा शरीर मलसहित है और इसको मलरहित (मैल से उत्पन्न दुर्गन्ध को दूर) करने के लिए स्नान की अभिलाषा नहीं करता, वह मलपरीषह पर विजय पा लेता है।

१९. सत्कार-पुरस्कार[४] परीषह

मुनि सत्कार-पुरस्कार की इच्छा न करे। दूसरे को सम्मानित होते देख अनुताप न करे।

---

१. वृत्तिपत्र १९९।
२. तत्त्वार्थसूत्र—श्रुतसागरीय वृत्तिपृष्ठ २९४।
३. प्रवचनसारोद्धार, वृत्तिपत्र १९४।
४. प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६८६ में 'सत्कार' परीषह है।

सत्कार का अर्थ है—प्रशंसा करना और पुरस्कार का अर्थ है किसी कार्य में किसी को प्रधान बनाना, परामर्श के योग्य बनाना। अन्य व्यक्तियों द्वारा सत्कार-पुरस्कार न किये जाने पर जो मुनि ऐसा विचार नहीं करता कि 'मैं चिर-तपस्वी हूं, मैंने अनेक बार प्रतिवादियों को शास्त्रार्थ में पराजित किया है, फिर भी कोई मुनि मेरी भक्ति नहीं करता, आसन आदि नहीं देता, वन्दना नहीं करता'। वे मिथ्यादृष्टि अच्छे हैं, जो अपने पक्ष के अल्पशास्त्रज्ञ तपस्वी को या गृहस्थ को भी सर्वज्ञ की संभावना से सम्मानित करते हैं, पूजा करते हैं, परन्तु ये मेरे तत्त्वज्ञ साधु अपने प्रवचन की प्रभावना के लिये भी मुझ जैसे तपस्वी का सत्कार नहीं करते। जो तपस्वी होता है, उसकी देवता भी पूजा करते हैं—यह बात मिथ्या है। यदि यह बात मिथ्या नहीं है तो मेरे जैसे तपस्वियों की देव पूजा-अर्चा क्यों नहीं करते? जो इस प्रकार दुर्ध्यान नहीं करता, वह सत्कारपुरस्कार-परीषह पर विजय पा लेता है।

२०. प्रज्ञा-परीषह

मुनि प्रज्ञा-परीषह को सहन करे। मनोज्ञ-प्रज्ञा होने पर भी गर्व न करे। बुद्धि का अतिशय न होने पर भी दीन न बने, उसे कर्म का विपाक मान कर सहे।

प्रज्ञा का अर्थ है—बुद्धि का अतिशय। जो मुनि तर्क, व्याकरण, साहित्य, छन्द आदि विद्याओं में निपुण होने पर भी ज्ञान का मद नहीं करता, जो यह गर्व नहीं करता कि प्रवादी मेरे सामने से उसी प्रकार से भाग जाते हैं जिस प्रकार सिंह के शब्द को सुन कर हाथी। 'मैं कुछ नहीं जानता, मैं मूर्ख हूं, मैं सबसे पराजित हूं'—इस प्रकार के विचारों से जो संतप्त नहीं होता, वह प्रज्ञापरीषह पर विजय पा लेता है।

२१. अज्ञान-परीषह

मुनि अज्ञान से उत्पन्न कष्ट को समभाव से सहे। मैं तपस्या, उपध्यान आदि विशद-चर्या से विहरण करता हूं, फिर भी मेरा छद्म (ज्ञानावरणीय कर्म) निवर्तित नहीं होता, ऐसा चिन्तन न करे।

'मैं मैथुन से निवृत्त हुआ, मैंने इन्द्रिय और मन का संवरण किया', 'यह सब निरर्थक है'; क्योंकि 'धर्म कल्याणकारी है'—'यह मैं साक्षात् नहीं जानता'—मुनि ऐसा न सोचे।

जो मुनि सकल शास्त्रों में मैं शून्य हूं—ऐसा सोच खेद नहीं करता, वह अज्ञानपरीषह पर विजय पा लेता है।

२२. दर्शन-परीषह

मुनि दर्शन के परिषह को समभाव से सहे। अपनी दृष्टि को सम्यक् बनाए रखे।

मुनि ऐसा न सोचे कि 'परलोक नहीं है, तपस्वी की ऋद्धि भी नहीं है। मैं ठगा गया हूं। जिन हुए थे, जिन हैं, अथवा जिन होंगे—ऐसा जो कहते हैं वे झूठ बोलते हैं।' क्रियावादियों के विचित्र मत को सुन कर भी जो सम्यग्-दर्शन से विचलित नहीं होता, जो आत्मा-परलोक आदि की विचारणा में मूढ़ नहीं होता, वह दर्शनपरीषह पर विजय पा लेता है।

तत्त्वार्थ सूत्र (९।९) में 'अचेल' के स्थान पर 'नाग्न्य' परीषह का उल्लेख है। समवायांग (समवाय २२) में अन्तिम तीन परीषहों का क्रम उत्तराध्ययन से भिन्न है—

उत्तराध्ययन	**समवायांग**
१. प्रज्ञा	**१. ज्ञान**
२. अज्ञान	**२. दर्शन**
३. दर्शन	**३. प्रज्ञा**

अभयदेवसूरि ने समवायांग की वृत्ति में अज्ञान-परीषह का क्वचित् श्रुति के रूप में उल्लेख किया है।[1]

तत्त्वार्थ सूत्र (९।९) में दर्शन परीषह के स्थान पर अदर्शन-परीषह माना गया है और प्रवचनसारोद्धार (गाथा ६८६) में सम्यक्त्व-परीषह।

दर्शन और सम्यक्त्व यह केवल शब्द-भेद है। अचेल और नाग्न्य में थोड़ा अर्थ-भेद भी है। अचेल का अर्थ है[2]—

१. नग्नता।

२. फटे हुए या अल्प मूल्यवाले वस्त्र।

तत्त्वार्थ सूत्र सागरीयवृत्ति में प्रज्ञा-परीषह और अदर्शन परीषह की

---

१. ज्ञानसामान्येन मत्यादि, क्वचिदऽज्ञानमिति श्रूयते।

२. चेलस्य अभावो अचेलम्—प्रवचनसारोद्धार, वृत्तिपत्र १९३।

व्याख्या मूल उत्तराध्ययन के पद्य और दर्शन-परीषह से भिन्न है। उत्तराध्ययन में जो अज्ञान-परीषह की व्याख्या है वह श्रुतसागरीयवृत्ति में अदर्शन की व्याख्या है।[१]

इन बाईस परीषहों के स्वरूप के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि कई परीषह सामान्य व्यक्तियों के लिए नहीं थे। वे जिनकल्पप्रतिमा को स्वीकार करने वाले विशेष सहिष्णु और धृतियुक्त मुनियों के लिए थे। शान्त्याचार्य ने भी इस ओर संकेत किया है। उनके अनुसार अचेल (जहां हम इसका अर्थ नग्नता करते हैं) परीषह जिनकल्पी मुनियों के लिए तथा ऐसे स्थविरकल्पी मुनियों के लिए ग्राह्य है जिन्हें वस्त्र मिलना अत्यन्त दुर्लभ है, जिनके पास वस्त्रों का अभाव है, जिनके वस्त्र जीर्ण हो गए हैं अर्थात् जो वर्षादि के बिना वस्त्र धारण नहीं कर सकते[२] और तृणस्पर्श-परीषह केवल जिनकल्पी मुनियों के लिए ग्राह्य है।[३]

प्रवचनसारोद्धार की टीका में सर्वथा नग्न रहना तथा चिकित्सा न कराना, केवल जिनकल्पी मुनियों के लिए ही बतलाया है।[४]

व्याख्याकारों ने सभी परीषहों के साथ कथाएं जोड़कर उन्हें सुबोध बनाया है। कथाओं का संकेत निर्युक्ति में भी प्राप्त है।

परीषह उत्पत्ति के कारण[५]

ज्ञानावरणीय कर्म–१. प्रज्ञा, २. अज्ञान।

अन्तराय कर्म–१. अलाभ।

चारित्र मोहनीय कर्म–१. अरति, २. अचेल ३. स्त्री ४. निषधा ५. याचना ६. आक्रोश ७. सत्कार-पुरस्कार।

दर्शन मोहनीय कर्म–दर्शन।

वेदनीय कर्म–क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, जल्ल।

---

१. उत्तराध्ययन २।४२, श्रुतसागरीय वृत्तिपत्र २९५।
२. वृहद्वृत्तिपत्र ९२,९३।
३. वही पत्र १२२।
४. पत्र १९३,९४।
५. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ७४-७९।

ये सभी परीषह नौवें गुणस्थान तक हो सकते हैं। दशवें गुण स्थान में चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले अरति आदि सात परीषह तथा दर्शन-मोहनीय से उत्पन्न दर्शन को छोड़कर शेष चौदह परीषह होते हैं। छद्मस्थ वीतराग अर्थात् ११वें १२वें गुणस्थानवर्ती मुनि में भी ये ही चौदह परीषह हो सकते हैं। केवली में केवल वेदनीय-कर्म के उदय से होने वाले ग्यारह परीषह पाए जाते हैं।[1]

एक साथ एक प्राणी में उत्कृष्टतः बीस परीषह (शीत-उष्ण में से कोई एक तथा चर्या-निषधा में से कोई एक) हो सकते हैं और जघन्यतः कोई एक परीषह हो सकता है।[2]

तत्त्वार्थ सूत्र में एक साथ उन्नीस परीषह माने हैं। जैसे शीत और उष्ण में से कोई एक होता है। शय्या परीषह के होने पर निषधा-चर्या परीषह नहीं होते तथा चर्या-परीषह होने पर शय्या और निषधा परीषह नहीं होते।[3]

बौद्ध भिक्षु काया-क्लेश को महत्त्व नहीं देते, किन्तु परीषह सहन की स्थिति को वे भी अस्वीकार नहीं करते। स्वयं महात्मा बुद्ध ने लिखा है[4]—

'मुनि शीत, उष्ण, क्षुधा, पिपासा, वात, आतप, दंश और सरीसृप का सामना कर खग विषाण की तरह अकेला विहरण करे।'

३२. आगमों में विनय

उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन का नाम **'विनय-श्रुत'** है। इसका अर्थ है—विनय का ज्ञापक श्रुत। इसमें विनय का व्यापक निरूपण हुआ है। फिर भी विनय की दो धाराएं अनुशासन और नम्रता अधिक प्रस्फुटित हैं।

आगम-ग्रन्थों में 'विनय' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। सुदर्शन ने थावच्चापुत्र अनगार से पूछा—'भगवन्! आपके धर्म का मूल क्या है?'

१. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ८०।
२. वही, गाथा ८३।
३. ९।१० श्रुतसागरीय वृत्तिपृष्ठ २९९।
४. सुत्तनिपात-उरंगवगा ३।१८—
सीतं च उण्हं च खुदं पिपासं वातावपे डंसं सिरिंसपे च।
सव्वानि मेतानि अभिसंभवित्ता एगोचरे खग्ग विसाण कप्पो।

थावच्चापुत्र ने कहा–'सुदर्शन! हमारे धर्म का मूल 'विनय' है। वह विनय दो प्रकार का है–आगार-विनय और अनागार विनय। पांच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत और ग्यारह प्रतिमाएं–यह आगार-विनय है। पांच महाव्रत, अठारह पाप-विरति, रात्रिभोजन-विरति, दसविध प्रत्याख्यान और बारह भिक्षु प्रतिमाएं–यह अनागार-विनय है।'

दशवैकालिक सूत्र में विनय शब्द वचन-नियमन, आचार और नम्रता-अनुशासन–इन तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। 'विनय' जिनशासन का मूल है। यहां विनय का अर्थ आचार है। कई इस प्रसंग में भी विनय का अर्थ 'नम्रता' करते हैं। परन्तु यह उपयुक्त नहीं। क्योंकि निर्ग्रन्थ-प्रवचन 'विनयवादी' नहीं है, वह क्रियावादी है। जैन शासन में आभ्यन्तर-तप के छह प्रकारों में विनय दूसरा प्रकार है। औपपातिक सूत्र में उसके भेद-प्रभेदों की लम्बी शृंखला है। उनका विशद विवेचन हमें टीका-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। विनय के मूल भेद सात हैं–

१. ज्ञान-विनय २. दर्शन-विनय ३. चारित्र-विनय ४. मन-विनय ५. वचन-विनय ६. काय-विनय ७. लोकोपचार-विनय।

१. ज्ञान-विनय

इसका अर्थ है–ज्ञान सीखना, ज्ञान का प्रत्यावर्तन करना, ज्ञान को आचरण में उतारना, ज्ञान तथा ज्ञानी के प्रति बहुमान करना आदि।

ज्ञान-विनय पांच प्रकार का है–

१. आभिनिबोधिक ज्ञान-विनय।

२. श्रुतज्ञान-विनय।

३. अवधि-ज्ञान-विनय।

४. मनःपर्यव-ज्ञान-विनय।

५. केवलज्ञान-विनय

२. दर्शन विनय

वीतराग के द्वारा समस्त भावों में यथार्थरूप से श्रद्धा करना दर्शन-विनय है।

इसके प्रधानतः दो भेद हैं–

१. शुश्रूषणा-विनय—उपासना।

२. अनाशातना-विनय—प्रतिकूल-व्यवहार नहीं करना।

शुश्रूषा-विनय दस प्रकार का है—

१. अभ्युत्थान।

२. आसनाभिग्रह—बड़ों का आसन लेकर साथ बैठ जाना।

३. आसन प्रदान—अतिथि को आसन देना।

४. सत्कार।

५. सम्मान।

६. कृतिकर्म—अभिवादन करना, वन्दन करना।

७. अंजलिप्रग्रह—हाथ जोड़ नमस्कार करना।

८. अतिथि के आने पर सामने जाकर सत्कार करना।

९. बैठे हुए की उपासना करना।

१०. जाते हुए के साथ जाना।

अनाशातना-विनय—यह अनाशातना—भक्ति-बहुमानं और वर्ण-संज्वलनता के भेद से पैंतालीस प्रकार की है (१५×३=४५)।

अनाशातना के पन्द्रह भेद—

अरिहन्त देव की अनाशातना, अरिहन्त देव द्वारा प्रज्ञप्त धर्म की अनाशातना, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, क्रिया (आस्तिक्य)—संभोग, सधार्मिक की अनाशातना तथा आभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यव-ज्ञान तथा केवलज्ञान की अनाशातना। इसी प्रकार भक्ति-बहुमान तथा वर्ण व संज्वलनता (यथार्थ गुणवर्णक) के भी पन्द्रह-पन्द्रह भेद होते हैं।

३. चारित्र-विनय

इसका अर्थ है—जिस क्रिया के द्वारा कर्म-चय का नाश किया जाता है, उसे चारित्र-विनय कहते हैं।

यह पांच प्रकार का है—

१. सामायिक-चारित्र-विनय।

२. छेदोपस्थापनीय-चारित्र-विनय।

३. परिहार-विशुद्ध चारित्र-विनय।

४. सूक्ष्मसंपराय-चारित्र विनय।

५. यथाख्यात-चारित्र-विनय।

४. मन-विनय

यह दो प्रकार का है—

१. अप्रशस्त मन-विनय—जो मन सावद्य, सक्रिय, कर्कश, कटुक, निष्ठुर, परुष, प्रमाद आदि आश्रवों का सेवन करने वाला, छेद-भेद करने वाला परिताप, उद्रवण और प्राणियों का हनन करने वाला है, वह अप्रशस्त मन है। जब मन इनमें व्यापृत रहता है, तब वह अप्रशस्त मन-विनय है।

२. प्रशस्त मन-विनय—उपरोक्त क्रियाओं से विरत मन का प्रवर्तन प्रशस्त मन-विनय कहलाता है।

५. वचन-विनय

मन-विनय की भांति इसके भी दो भेद हैं—प्रशस्त-वचन विनय और अप्रशस्त-वचन-विनय। अवान्तर भेद भी इसी की तरह हैं।

६. काय-विनय

यह दो प्रकार का है—प्रशस्त काय-विनय और अप्रशस्त काय-विनय।

अप्रशस्त काय-विनय—यह सात प्रकार का है—

१. अनायुक्त-गमन असंयमी व्यक्ति का अथवा अयतना पूर्वक गमन।

२. अनायुक्त स्थान।

३. अनायुक्त-निषीदन।

४. अनायुक्त-शयन।

५. अनायुक्त-उल्लंघन।

६. अनायुक्त-प्रलंघन।

७. अनायुक्त-सर्वेन्द्रिय काय-योग-युक्तता—समस्त इन्द्रियों का असंयमित व्यापार।

प्रशस्त काय-विनय—यह भी सात प्रकार का है। उपरोक्त गमन आदि सात क्रियाओं में जब व्यक्ति आयुक्त होता है, अथवा संयमी व्यक्ति का गमन, तब उसे प्रशस्त-काय-विनय कहा जाता है।

७. लोकोपचार-विनय

यह सात प्रकार का है—

१. **अभ्यासवर्तिता**—आराध्य के समीप बैठना।

२. **पर छन्दानुवर्तिता**—आराध्य के अभिप्रायानुसार वर्तन करना।

३. **कार्यहेतुक**—ज्ञानादि के निमित्त भक्त-पान आदि का दान देना।

४. **कृतप्रतिकृति**—विनय के प्रयोग में प्रसादित गुरु मुझे श्रुत सिखाएंगे—ऐसा सोचकर भक्तपान के दान का प्रयत्न करना।

५. **आर्तगवेषणा**—दुःखियों की वार्ता का अन्वेषण करना।

६. **देशकालज्ञता**—अवसरोचित कार्य करना।

७. **सर्वार्थों में अप्रतिलोमता**—आराध्य के समस्त प्रयोजनों में अनुकूल रहना। उपर्युक्त भेद-प्रभेद औपपातिक सूत्र के अनुसार हैं।

शान्त्याचार्य ने विनय के पांच भेद किये हैं—

१. लोकोपचार-विनय अभ्युत्थान, आसनदान, अतिथि-पूजा आदि-आदि।

२. अर्थहेतुक-विनय अभ्यासवर्तिता, छन्दानुवर्तना, देशकाल दान, अभ्युत्थान आदि।

३. कामहेतुक-विनय।

४. भय-विनय।

५. मोक्ष-विनय।

यह पांच प्रकार का है—

१. दर्शन-विनय।

२. ज्ञान-विनय।

३. चारित्र-विनय।

४. तप-विनय।

५. औपचारिक-विनय।

भगवती (२५।७।८०३) में भी विनय के भेद-प्रभेदों का उल्लेख कुछेक परिवर्तन के साथ हुआ है।

३३. आगमों में विगयविवेक

जिस प्रकार मनोज्ञ-शब्द, मनोज्ञ-रूप, मनोज्ञ-रस, मनोज्ञ-स्पर्श आदि मन में विकार उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार कई प्रकार के भोजन भी मानसिक विकृति के निमित्त बनते हैं। यह सही है कि व्यक्ति का व्यामोह ही उसके विकृति बनने का उपादान है, किन्तु निमित्त कारणों से विकृति में उभार आता है या सुषुप्त विकृत-भावनाएं योग्य अवसर पर उदित हो जाती हैं, यह भी सत्य है। बाह्य निमित्तों में भोजन भी एक निमित्त है, जिससे कि व्यक्ति में उत्तेजना आती है। इसलिए साधना में रत व्यक्ति के लिए भोजन का विवेक उतना ही आवश्यक है जितना कि प्राणवायु के ग्रहण का। जिसमें यह विवेक नहीं होता वह पग-पग पर कष्ट पाता है और पथच्युत संभावनाओं से प्रतिपल घिरा रहता है।

जैन आगमों में स्थान-स्थान पर इस विवेक का विशद उल्लेख है और वह साधक के लिए प्रकाश-स्तम्भ है। सामान्य आहार लिए बिना शरीर टिकता नहीं, इसलिए साधक आहार ग्रहण करता है। साथ-साथ शारीरिक संस्थान को तपस्या आदि के योग्य बनाने के लिए तथा ध्यान आदि में घंटों तक अविचलित रह सके ऐसी शक्ति अर्जित करने के लिए वह कुछ पौष्टिक आहार भी लेता है। पौष्टिक आहार लेने का निषेध नहीं है, किन्तु उसे कब और कैसे लिया जाए, इसका विवेक अवश्य होना चाहिए। ग्रन्थों में यह मिलता है कि आचार्य अपने शिष्यों के आहार का संतुलन रखे। न उन्हें अतिमात्रा में या प्रतिदिन विगय, घी-दूध आदि ही दे और न प्रतिदिन रूखा-सूखा ही दे। क्योंकि प्रतिदिन विगय आदि देने से साधक के मन में उत्तेजना बढ़ती है और वह साधना से फिसल जाता है, प्रतिदिन रूखा-सूखा देने से बुद्धि तीक्ष्ण नहीं बनती, रोग आदि भी उत्पन्न होते हैं। मूत्र की बाधा बार-बार होने से ध्यान, स्वाध्याय आदि में विघ्न उपस्थित होते हैं। अतः दोनों प्रकार के भोजन का संतुलन आवश्यक हो जाता है।

विगय-प्रतिबद्ध साधक के विशिष्ट ज्ञान-दर्शन उत्पन्न नहीं होते। विशिष्ट लब्धियों से वह वंचित रहता है। अतः विगय का ज्ञान और उनके उपयोग का विवेक उसकी सफलता का पहला सोपान है। ठाणं सूत्र में विकृतियों को तीन भागों में बांटा है—

१. गोरस विकृतियां।

२. स्निग्ध विकृतियां।

३. महा विकृतियां।

दूध, दही, घी और मक्खन गोरस-विकृतियां हैं। तेल, घृत, वसा और नवनीत स्निग्ध-विकृतियां हैं और मधु, मांस, मद्य और नवनीत महा-विकृतियां हैं।

विकृतियों की संख्या भी सदा एक-सी नहीं रही है। चुल्लकप्पसूत्र (कल्पसूत्र की समाचारी) में नौ विकृतियों का उल्लेख है, उसमें मांस अन्तिम है। इस शब्द का अर्थ प्राण्यंगवाची न कर पक्वान्न किया गया है। ठाणं (९/२३) में भी नौ विकृतियों का उल्लेख हुआ है। आवश्यक निर्युक्ति तथा हरिभद्रसूरि कृत पंचवस्तुक ग्रन्थ में विकृतियों की संख्या दस बताई गई है—दूध, दही, नवनीत, तेल, घृत, गुड़, मद्य, मधु, मांस और तले हुए पदार्थ। उस समय यह भी मान्यता थी कि सभी प्रकार के दूध, दही आदि विगय नहीं हैं, किन्तु अमुक-अमुक ही विगय की कोटि में आते हैं।

गाय, भैंस, ऊंटनी, बकरी और भेड़ का दूध विगय में है, दूसरे दूध विगय में नहीं गिने जाते। इसी प्रकार ऊंटनी को छोड़कर बाकी के चार पशुओं के दही को विगय माना है। उष्ट्री (ऊंटनी) के दूध का दही नहीं जमता।

तिल, अलसी, कुसुम, सरसों से निकाले हुए तेल विगय में हैं। नालिकेर, एरंड, शिंशप आदि के तेल विगय में नहीं हैं।

गुड़ के दो भेद हैं—द्रव गुड़ और पिण्ड गुड़। ये दोनों विकृति हैं। मद्य दो प्रकार का है—काष्ठनिष्पन्न और पिष्टनिष्पन्न। काष्ठ-निष्पन्न मद्य जैसे ईक्षु, ताड़ आदि से निष्पन्न तथा पिष्टनिष्पन्न जैसे चावल कोद्रव आदि से निष्पन्न—ये दोनों विकृति हैं। अन्य प्रकार के मद्य विकृति नहीं हैं। तीनों प्रकार के मधु मक्षिकाकृत, कुत्तिकाकृत और भ्रमरकृत विगय हैं, दूसरे नहीं।

तीनों प्रकार के मांस (जलचर, स्थलचर, खेचर प्राणियों) विगय हैं,

अथवा चर्म, वसा और शोणित—ये तीनों भी विगय में हैं।

अवगाहिम विगय की विधि यह है—जिस तेल या घृत में एक पदार्थ तला जाता है, फिर उसी तेल या घृत में दूसरे पदार्थ तले जाते हैं, फिर उसी तेल में अन्य दूसरे पदार्थ तले जाते हैं तब तक वह विगय है। जब उसी तेल या घृत में चौथी बार पदार्थ तले जाते हैं तब उन्हें निर्विगय में माना गया है।

इसी प्रकार खीर को भी विगय और निर्विगय दोनों माना है। जिस खीर में चावलों के ऊपर चार अंगुल दूध चढ़ा रहता है तब तक वह निर्विगय है और यदि उन पर पांच अंगुल या और अधिक दूध चढ़ा होता है तो वह विगय में है। इसी प्रकार दही में जमाए-पकाए गए पदार्थों के लिए भी है।

द्रव गुड़ में पकाई गई वस्तु पर यदि एक अंगुल गुड़ चढ़ा हुआ है तो वह विगय में नहीं है, अन्यथा विगय में है। इसी प्रकार तेल और घृत के पदार्थों को भी जानना चाहिए। मधु या मांस के रस से संसृष्ट पदार्थ विगय तभी हैं जबकि उन पर आधे अंगुल से ज्यादा रस चढ़ा हुआ हो अन्यथा वे निर्विगय हैं। यह प्राचीन परम्परा टीकाकारों के समय तक प्रचलित रही है और आज भी जैन परम्परा में इनके आस-पास की मान्यताएं मिलती हैं। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में इसके भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं और वे सारे स्वरूप अपनी-अपनी रूढ़ परम्पराओं के आधार पर निर्धारित किए गए हैं।

विकृति और विकृतिगत में अन्तर माना गया है। विकृतियां दस हैं, किन्तु विकृतिगत तीस हैं। जिनके विगय का प्रत्याख्यान होता था वे विकृतिगत का उपयोग करते थे। विकृतिगत का अर्थ है—मूल विकृति नहीं, किन्तु विकृति के आश्रित।

दूध के पांच विकृतिगत हैं—१. दूध की कांजी, २ मावा, वली, मलाई, ३. द्राक्षाओं से मिश्रित दूध, जो उबाला गया हो, ४. जिस दूध में चावलों का आटा सिजाया गया हो ५. खीर।

दही के पांच विकृतियां हैं—

१. घोल बड़ा।

२. वस्त्र से छाना हुआ दही।

३. शिखरणी।

४. करम्बक—दही सहित चावल।

५. मट्ठा या रायता।

घृत के पांच विकृतिगत हैं—

१. औषधियों से पका हुआ घृत।

२. घृत के ऊपर का मैल।

३. घृत में पकाई गई औषधियों पर आया हुआ घृत।

४. जला हुआ घृत।

५. दही की मलाई पर आया हुआ घृत।

तेल के पांच विकृतिगत हैं—

१. तेल के ऊपर का तेल।

२. तिलकुटि।

३. जला हुआ तेल।

४. तेल में पकाई गई औषधियों के ऊपर से निकला हुआ तेल।

५. लाक्षादि द्रव्यों से पका हुआ तेल।

गुड़ के पांच विकृतिगत हैं—

१. आधा उबला हुआ ईक्षु रस।

२. गुड़ का पानी।

३. शर्करा।

४. खांड।

५. चासनी।

अवगाहिम विगय के पांच विकृतिगत हैं—

१. एक पूड़े से पूरी कड़ाई भर जाए, उस पर दूसरा पूड़ा डाला जाए, वह विकृतिगत है, विकृति नहीं।

२. तीन घाण के बाद चौथे घाण में तला हुआ पदार्थ।

३. गुड़धानी।

४. घी से लिप्त कड़ाही में जल डालकर पकाई हुई लापसी।

५. घृत से लिप्त कड़ाही में पकाई हुई पूड़ी।

ये विकृतिगत पदार्थ का प्रत्याख्यान रखने वाले भी खाते थे तथा जो योगवाद न करते थे, उनके लिए भी यह निषिद्ध नहीं था। यह प्राचीन परम्परा की बात है, आज की परम्परा में काफी मतभेद है। प्रायः इन सब विकृतिगत पदार्थों को मूल विगय माना जाता है।

विकृति के विषय में यह संक्षिप्त विवरण प्रवचनसारोद्धार और आवश्यक-चूर्णि ग्रंथ के आधार पर है। परम्पराओं में परिवर्तन आता है और समय-समय पर उनकी नई मर्यादाएं परिभाषा में बनती रहती हैं। जैन आगमों में स्थान-स्थान पर विगय-चर्चा है और साधक को उसमें विवेक रखने का स्पष्ट संकेत है।

केवल भोजन ही या केवल मन ही दुर्बलताओं या विकृतियों का साधन बनता हो, यह एकान्ततः सत्य नहीं है। दोनों विकृति के कारण बनते हैं—**'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन'** और **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'**—ये दोनों लौकिक वाक्य अपनी-अपनी अपेक्षाओं में ही सत्य हैं। किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि भोजन का विवेक न रखना और मन को सत्संकल्पों से पूरित नहीं करना—दोनों फिसलने के हेतु हैं। अतः साधक को विशेष विवेक की आवश्यकता होती है।

३४. सूत्रकृतांग के आधार पर सभ्यता और संस्कृति

देश-नगर आदि

इस सूत्र में मगध, लाट आदि देशों तथा सुवर्णभूमि (पत्र १९८), बनारस (पत्र २२६), राजगृह, नालन्दा (२।७ सूत्र ६८), रत्नपुर (पत्र १६९), पाटलिपुत्र (पत्र १११) आदि नगरों का उल्लेख मिलता है। इन सबका विस्तृत वर्णन वहां उपलब्ध नहीं है, किन्तु विकीर्ण-स्थलों में उनके विषय में कुछ सामग्री अवश्य मिल जाती है। टीकाकार और निर्युक्तिकार ने राजगृह और नालन्दा का कुछ वर्णन किया है—

'उस समय राजगृह नगर एक समृद्धिशाली नगर था। वह धन, कनक से परिपूर्ण था। उसे 'सर्वकामप्रद' भी कहा जाता था। वहां अनेक धनाढ्य व्यक्ति रहते थे। वहां अनेक प्रासाद थे। वह नगर अत्यन्त रमणीय और दर्शनीय था। वह स्वर्ग का प्रतिबिम्ब माना जाता था। मगध देश का वह तिलक था।[१] उसका दूसरा नाम 'पंचशैलपुर' था। वह वैभार आदि पांच पर्वतों से सुशोभित था।

राजगृह नगर के उत्तर-पूर्व में 'नालन्दा' नगर बसा हुआ था। वह राजगृह का उपनगर (बहिरिका) कहलाता था। वहां सैकड़ों भवन थे। वह भी अत्यन्त समृद्धिशाली नगर था। उसकी विशेषता वहां पर रहने वाले 'लेप' नामक गृहपति के ऐश्वर्य से स्पष्ट होती है। गृहपति लेप वहां का प्रमुख नागरिक था। उसके अनेक मकान थे। उसके पास यान, वाहन, धन-धान्य की प्रचुरता थी। अनेक नगरों में उसका व्यवसाय चलता था। सामुद्रिक-व्यापार में वह प्रमुख था। उसके अपने 'यानपात्र' थे। वह दूर-दूर तक सामुद्रिक यात्राएं करता था। उसके अनेक दास-दासी थे। स्थान-स्थान पर उसकी दानशालाएं चलती थीं। ऐसे धनाढ्य व्यक्ति नालन्दा में अनेक थे।[२]

राजगृह व्यापारिक केन्द्र था और वह भारत के प्रायः बड़े-बड़े शहरों से, विभिन्न सड़कों द्वारा जुड़ा हुआ था।

उस समय सारी वसतियां ग्राम, नगर, खेट, कर्वट आदि अनेक भागों में विभक्त थी।[३] इन सबकी अलग-अलग परिभाषाएं और व्यवस्थाएं थीं।

१. **ग्राम**—जिसके चारों ओर कांटों की बाड़ अथवा मिट्टी का परकोट हो, वह।[४]

२. **नगर**—जो राजधानी होती थी उसे अथवा जहां किसी भी प्रकार का 'कर' नहीं लगता था उसे नगर कहा जाता था।[५]

३. **खेट**—ऐसा ग्राम जिसके चारों ओर नगर हो अथवा धूली का परकोटा

---

१. मगहमंडलतिलअ राजगिहनयर—जयधवला।
२. २।७ सूत्र ६९—वृ. पत्र १६०,६१।
३. २।५ सूत्र २१, स्थानांग २।४।सू. ५२०।
४. ग्रसति गुणान् गम्यो वाऽष्टादशानां कराणामिति ग्रामः, उत्तरा. ३०, बृ. वृत्तिपत्र, ६०५।
५. (क) नात्र करोऽस्तीति नकरम्, उत्तरा. वृत्तिपत्र, ६०५
(ख) देवतायतनैश्चित्रैः प्रासादापणवेश्मभिः।
नगरं दर्शयेद् विद्वान्, राजमार्गैश्च शोभनैः।। सोमनन्दी-अर्थशास्त्र।

हो।[१]

४. **कर्वट**–पर्वत से घिरा हुआ ग्राम।

५. **मडंब**–जिसकी चारों दिशाओं में ढाई गाऊ (कोश) तक कोई भी ग्राम न हो।[२]

६. **द्रोणमुख**–समुद्र के किनारे बसा हुआ ग्राम जिसमें जल और स्थल–दोनों से आने-जाने का मार्ग हो।[३]

७. **घोष**–आभीरों की वसति।

८. **पत्तन**–जिसमें रत्नों की खाने हों अथवा जिसमें जल या स्थल–किसी एक मार्ग से माल ढोया जाए।[४]

९. **आश्रम**–तीर्थस्थान, तापसों का निवासस्थान।

१०. **सन्निवेश**–छावनी।

११. **निगम**–व्यापारियों का ग्राम।

१२. **राजधानी**–राजा का निवास-स्थान।

उस समय भारत अनेक इकाइयों में बंटा हुआ था। छोटे-छोटे राज्य थे। सबकी अपनी-अपनी सीमाएं थीं। वे आपस में बहुत लड़ते-झगड़ते थे। सबको सदा सावचेत रहना पड़ता था। प्रत्येक राजा अपनी-अपनी सुरक्षा के लिए स्थान की सुरक्षा पर विशेष ध्यान देते थे। नगरों तथा गांवों के चारों ओर परकोटे होते थे। जहां पहाड़ों की नैसर्गिक सुविधा होती वहां पहाड़ के चारों ओर एक खाई खोदी जाती और उसे दुर्लंघ्य बना दिया जाता था। वे खाइयां पानी से भर दी जाती थी जिससे कि शत्रु उसको सहजतया पार न कर सकें। पर्वतों में स्थान-स्थान पर गुप्त स्थान बनाये जाते थे जिन्हें धव आदि सघन वृक्षों से ढक दिया जाता था। ऐसे स्थानों का पता लगाना दुश्मनों के लिए

१. (क) धूलिप्राकारपरिक्षिप्तम्–खेटः, उत्तराध्ययन, वृत्तिपत्र ६०५
(ख) लोकप्रकाश सर्ग ३१, श्लोक २९०
तत्रवृत्यावृतो ग्रामो,.................।
नगरं राजधानी स्यात्,................॥

२,३. अर्द्धतृतीयकोशान्तर्ग्रामशून्यं मडंबकम्।
जलस्थलपथोपेतमिह द्रोणमुखं भवेत्॥ (लोक प्र. सर्ग ३१, श्लो. २।१०)।

४. *रत्नयोनिश्च पत्तनम्॥ (लोकप्रकाश सर्ग ३१, श्लोक ९।१०)।*

अत्यन्त कठिन होता था।[१]

नगर के चारों ओर चार बड़े-बड़े द्वार होते थे और वे प्रायः सायंकाल के समय बन्द हो जाते थे।[२] उसके बाद नगर में किसी का भी प्रवेश या निर्गमन बिना राजाज्ञा के नहीं हो सकता था।

पाटलिपुत्र नगर में कामशास्त्र की पढ़ाई कराई जाती थी।[३] सिन्धु, ताम्रलिप्ति और कोंकण आदि देशों में दंश-मशक बहुत होते थे।[४] वहां साधुओं का आवागमन यदा-कदा होता था, ऐसा प्रतीत होता है। टीकाकार के अनुसार उस समय मगधदेश की गणिकाएं प्रसिद्ध थीं और वे अनेक प्रकार के कपट करने में दक्ष समझी जाती थीं। वे हाव-भाव, कटाक्ष आदि की विद्याओं में निपुण और दूसरों को आकृष्ट करने में अनुपम थीं। उन्हें लोगों को मोहित करने के लिए दूर-दूर से बुलाया जाता था।[५]

मगध देश में संस्कृत आबालगोपाल की भाषा थी।[६] लाढ देश म्लेच्छों का देश था। वहां चोर, हिंस्रपशु तथा अनार्य लोगों का पूर्ण भय रहता था।[७] वहां धान्य रखने के लिए एक विशेष आकार का स्थान बनाया जाता था जिसे 'पल्लक' कहते थे। वह ऊर्ध्वायत और ऊपर से संक्षिप्त होता था।[८]

---

१. वलयं गहणं णूमं–१।३।३।१ वृ. पत्र ८९–यत्रोदकं वलयाकारेण व्यवस्थितं, उदकरहिता वा गर्ता दुःखनिर्गमप्रवेशः.....तथा गहनं-धवादिवृक्षैः, कटिस्थानीयं, णूमं–प्रच्छन्नं गिरिगुहादिकम्।

२. यावत् सविताऽस्तमुपगतः तदनन्तरमेव स्थिगितानि च नगरद्वाराणि–२।७ वृ. १६९।

३. वैशिकं कामशास्त्रमध्येतुं पाटलिपुत्रं प्रस्थितः–१।४।१ वृ. पत्र १११।

४. क्वचित् सिन्धुताम्रलिप्तकोङ्कणादिके देशे अधिका दंशमशका भवन्ति–१।३।१ वृ. प. ८३।

५. मागधगणिकाद्या नानाविधकपटशतकरणदक्षा विविधविव्वोकवत्यो....१।४।१ वृ. पत्र १०५।

६. मगधदेशे सर्वेणाप्यागोपालाङ्गनादिना संस्कृतमेव उच्चार्यते–२।२ वृ. पत्र ४८।

७. १।३।१ पत्र ७९।

८. पल्लको नाम लाटदेशे धान्याधारविशेषः, स च ऊर्ध्वायत उपरि च किञ्चित् संक्षिप्तः–(आवश्यक-मलयगिरि वृत्तिपत्र ६८)।

गोल्ल देश में ब्राह्मण का हनन गर्हित-कर्म माना जाता था।[1]

मार्ग

विभिन्न स्थानों में विभिन्न प्रकार के मार्ग थे। यह मानव का स्वभाव है कि जहां और जिस वायुमंडल में वह रहता है उसी के अनुसार वह अपनी सुख-सुविधाएं जुटा लेता है। निर्युक्तिकार ने फलकमार्ग, लतामार्ग, आन्दोलनमार्ग, वेत्रमार्ग, रज्जुमार्ग, दवनमार्ग, बिलमार्ग, पाशमार्ग, कीलकमार्ग, अजमार्ग, पक्षिमार्ग, छत्रमार्ग, जलमार्ग और आकाशमार्ग—इन चौदह मार्गों का उल्लेख किया है।[2]

१. **फलकमार्ग**—जहां कीचड़ आदि अधिक हो जाता था अथवा गढ़े अधिक होते थे, तब उसे पार करने के लिए लकड़ी के फलक बिछाए जाते थे। लोग इन फलकों से आवागमन करते थे।[3]

२. **लतामार्ग**—विशेषतः यह मार्ग जंगलों में होता था जहां पथिक सघन लताओं को पकड़कर इधर-उधर आते जाते थे।[4]

३. **आन्दोलन मार्ग**—यह संभवतः झूलने वाला मार्ग रहा हो अथवा झूले के सहारे व्यक्ति इस पार से उस पार पहुंच जाता हो। विशेषतः यह मार्ग दुर्ग आदि पर बनाया जाता था जहां खाइयां आदि झूल कर पार की जाती थीं।[5] चूर्णिकार के अनुसार व्यक्ति वृक्षों की शाखाओं को पकड़कर झूलते और इसी प्रकार दूसरे-दूसरे वृक्षों की शाखाओं को पकड़ते हुए पार हो जाते थे।[6]

४. **वेत्रमार्ग**—यह मार्ग नदियों को पार करने में सहायक होता था। जहां नदियों में बेंत की लताएं सघन होती थीं वहां पथिक उन लताओं का अवष्टम्भ लेकर एक किनारे से दूसरे किनारे पर पहुंच जाता था। जिस नदी में 'बेंत' की

---

१. **जो पुण पुरिसं मारेति गोल्लविसए ब्राह्मणघातक इव पुरिसघातओवि गरिहिज्जति—सूत्रकृ. चूर्णि, पृ. ३५७।**
२. **फलगलयदोलणवित्तरज्जुदवणबिलपासमग्गेय। खीलगअयपक्खिपहे छत्तजलाकासदव्वंमि (गा. १०७)।**
३. **फलकमार्गः यत्र कर्दमादिभयात् फलकैर्गम्यते १।११ वृ. पत्र १९८, चूर्णि पृ. २३९।**
४. **लतामार्गस्तु यत्र लतावलम्बनेन गम्यते—१।११ वृ. पत्र १९८, चूर्णि पृ. २४०।**
५. **आन्दोलनमार्गोऽपि यत्रान्दोलनेन दुर्गमतिलंघ्यते १।११ वृ. पत्र १९८।**
६. **चूर्णि पृ. २३९,२४०।**

लताएं उगतीं, वहीं ऐसे मार्ग का निमाण होता था। चारुदत्त नामक एक व्यक्ति ऐसे मार्ग से वेत्रलताओं का अवष्टम्भ ले वेत्रवती नदी को पार कर दूसरे किनारे पर पहुंचा था।[१]

इन्हें 'वंशपथ' या 'वेत्राचार' भी कहा है। ये उन मार्गों के नाम हैं जहां नदी के एक किनारे पर लगे हुए लम्बे बांस या बेतों को झुकाकर उनकी सहायता से दूसरी ओर पहुंचा जा सके। अत्यन्त घने जंगलों में इस प्रकार के उपाय काम में लाये जाते थे।[२] पालिमहानिदेश में इसे **'वेत्तचार पथ'** कहा है।[३]

५. रज्जुमार्ग–अति दुर्गम-स्थानों में रस्सियों को अनेक स्थानों पर बांध कर मार्ग का निर्माण किया जाता था।[४] संभव है कि इस मार्ग का निर्माण पर्वतीय स्थलों में होता था। व्यक्ति रस्सी के सहारे पर्वतों पर चढ़कर अधित्यका से उपत्यका में पहुंच कर अपने गन्तव्य स्थान को प्राप्त कर लेता था। आज भी पहाड़ी स्थानों में ऐसे मार्ग होते हैं।

६. दवनमार्ग–यान आदि के जाने-आने का मार्ग। दवन का अर्थ 'यान' है और उसके गमनागमन के मार्ग को 'दवनमार्ग' कहा जाता है।[५] इस पथ पर सभी प्रकार के 'यान' आते जाते थे। आज की तरह ये मार्ग प्रत्येक नगर को जोड़ने वाले मुख्य सड़कों का काम करते थे। इन पर हाथी, घोड़े, बैल आदि के रथ सहजतया आ-जा सकते थे। ये बहुत चौड़े और सीधे होते थे। ये पाणिनी के स्थलपथ, रथपथ, करिपथ, राजपथ, सिंहपथ आदि हैं।[६]

७. बिलमार्ग–सुरंगों से इधर-उधर आने-जाने के मार्ग।[७] इन्हें 'मूषिक पथ' भी कहा है। ये पर्वतीय मार्ग थे, जिनमें चट्टानें काटकर चूहों के बिल जैसी छोटी-छोटी सुरंगें बनाई जाती थीं। जिनमें चौड़ी सुरंगें काटी जाती थीं, उन्हें 'दरीपथ' कहा जाता था।[८] इनमें दीप लेकर प्रवश किया जाता था।[९]

---

१. **वेत्रमार्गो यत्र.......परकूलं गतः १।११ वृ. प. १९८।**
२. **पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ. २३५।**
३. ***भाग* १ पृ. १५४, १५५; *भाग* २ पृ. ४१४, ४१५।**
४. **रज्जुमार्गस्तु यत्र रज्ज्वा किञ्चिदति दुर्गमतिलंघ्यते–१।११ वृ. पत्र १९८।**
५. **'दवनं' ति यानं, तन्मार्गो दवनमार्गः १।११ वृ. पत्र १९८।**
६. **पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ. २३५।**
७. **बिलमार्गो यत्र तु गुहाद्याकारेण बिलेन गम्यते–१।११ वृ. पत्र १९८।**
८. **पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ. २३५।**
९. **बिलंदीवगेहिं पविसंति चू. पृ. २४०।**

८. **पाशमार्ग**–चूर्णिकार के अनुसार यह वह मार्ग है जिसमें व्यक्ति अपनी कमर को रज्जु से बांध कर रज्जु के सहारे आगे बढ़ता था। 'रसकूपिका' (स्वर्ण आदि की खदान) में इसी के सहारे नीचे गहन अंधकार में उतरा जाता था और रज्जु के सहारे ही पुनः बाहर आना होता था।[१]

वृत्तिकार ने इसे मृगजाल आदि से युक्त मार्ग माना है, जिसका उपयोग शिकारी करते हैं।[२]

९. **कीलकमार्ग**–ये वे मार्ग थे जहां स्थान-स्थान पर कीलें गाड़ी जाती थीं और पथिक उन कीलिकाओं के अभिज्ञान से अपने मार्ग पर बढ़ता जाता था। कीलिकाएं उसे मार्ग भूलने से बचाती थीं। ये विशेषतः मरुप्रदेशों में या जहां खानें अधिक होती थीं वैसे प्रदेशों में बनाए जाते थे।[३]

पाणिनि के व्याकरण में कात्यायन तथा महानिद्देश में 'शंकुपथ' का उल्लेख है। वह अत्यन्त कठिन पथ था। पहाड़ी मार्गों में जहां बीच में चट्टानें आ जाती थीं वहां शंकु अर्थात् लोहे की कीलें चट्टानों में ठोक कर चढ़ना पड़ता था।[४]

१०. **अज[५]मार्ग**–यह एक संकरा पथ होता था जिसमें केवल अज (बकरी) या बछड़े के चलने जितनी पगडंडी मात्र होती थी।

अजपथ के विषय में बृहत्कथा श्लोकसंग्रह में लिखा है कि–'यह रास्ता इतना कम चौड़ा होता था कि आमने सामने से आने वाले दो व्यक्ति एक साथ उस पर से नहीं निकल सकते थे। जिस मार्ग में केवल एक बकरी के चलने की गुंजाइश हो वह तंग रास्ता 'अजपथ' कहलाता था। ये विशेषतः पहाड़ी स्थानों में पाये जाते थे। आज भी पहाड़ों पर ऐसे पथ हैं, जहां बकरी और भेड़ों पर छोटे-छोटे थैलों में माल लादकर ले जाते हैं। इन्हें 'मेण्ढपथ' भी कहा जाता था।[६]

---

१. **रज्जुं वा कडिए बंधिऊण पच्छा रज्जुं अणुसरंति....पासमग्गो–चूर्णि, पृ. १९४।**
२. **पाशप्रधानो मार्गः–पाशमार्गः पाशकूटवागुरान्वितो मार्ग इत्यर्थः–वृ. पत्र १९८।**
३. **खीलगेहिं रुमाविसए वालुगाभूमीए चक्कमंति.....अन्यथा पथभ्रंशः–चूर्णि, पृ. १९४।**
४. **पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ. २३५।**
५. **अजमार्गो.........गत इति–१।११ वृ. पत्र १९८।**
६. **पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ. २३५।**

चूर्णिकार ने इसे 'अयपथ'—लोहपथ माना है और ऐतिहासिक जानकारी देते हुए लिखा है कि यह सुवर्णभूमी (सुमात्रा) से यहां तक (?) बना हुआ था।[१]

११. पक्षिमार्ग—यह आकाश मार्ग था। व्यक्ति भारुण्ड आदि पक्षियों पर यात्रा करते थे। यह सर्वसुलभ न भी रहा हो, परन्तु श्रीमन्त या मान्त्रिक विद्याओं में पारगामी लोग इन पक्षियों का उपयोग वाहन के रूप में करते हों, यह असंभव नहीं लगता। क्योंकि आज भी शतुर्मुर्ग का वाहन के रूप में उपयोग होता है। इसकी गति तीव्र होती है, यह भूमि पर दौड़ता है। उसी प्रकार भारुण्ड, हंस आदि पक्षियों पर सवारी कर आकाशमार्ग से गन्तव्य तक पहुंचना अत्युक्ति नहीं कही जा सकती।[२] यह पाणिनि का 'हंसपथ', महानिद्देश का 'शकुनपथ' और कालीदास का 'खगपथ', 'घनपथ', 'सुरपथ' है।[३]

१२. छत्रमार्ग—यह ऐसा मार्ग था जहां छत्र के बिना आना-जाना निरापद नहीं होता था।[४] संभव है जंगलों में हिंस्रपशुओं के भय से छत्ते रखकर ही उन्हें पार करना पड़ता हो। छत्तों को देखकर हिंस्रपशु डर जाते हैं—ऐसी धारणा रही हो।

१३. जलमार्ग—यानपात्र, नौका, जहाज आदि से आने-जाने का मार्ग।[५] इसे 'वारिपथ' भी कहा गया है।[६]

१४. आकाशपथ—विद्याधरों तथा मंत्रविदों के आने-जाने का मार्ग।[७] इसे 'देवपथ' भी कहा है।[८]

इनके अतिरिक्त पाणिनि ने अपनी व्याकरण में देवपथादि गण में—वारिपथ, स्थलपथ, रथपथ, करिपथ, शंकुपथ, सिंहपथ, हंसपथ, देवपथ आदि-आदि का उल्लेख किया है।[९]

---

१. चूर्णि, पृ. २४०।
२. पक्षिमार्गो—भारुण्डादिपक्षिभिर्देशान्तरमवाप्यते—१।११ पत्र १९८।
३. पाणिनिकालीन भारतवर्ष—पृ. २३५।
४. छत्रमार्गो यत्र छत्रमन्तरेण गन्तुं न शक्यते—१।११ वृ. पत्र १९८।
५. जलमार्गो यत्र नावादिभिर्गम्यते—१।११ वृ. पत्र १९८।
६. पाणिनिकालीन भारतवर्ष—पृ. २३६।
७. आकाशमार्गो विद्याधरादीनाम्—१।११ वृ. पत्र १९८।
८. पाणिनिकालीन भारतवर्ष—पृ. २३५।
९. पाणिनिकालीन भारतवर्ष—पृ. २३५।

पाली महानिद्देश में पथों का उल्लेख इस प्रकार है—वण्णुपथ, अजपथ, मेंढपथ, संकुपथ, छत्तपथ, वंसपथ, सकुणपथ, मूसिकपथ, दरीपथ, वेत्तचार पथ।[१]

कात्यायन ने कान्तारपथ, स्थलपथ और वारिपथ का विशेष उल्लेख किया है।[२]

आचार्य कौटिल्य ने मार्गों को दो भागों में बांटा है—

(१) नगर के भीतरी मार्ग और (२) नगर के बाहरी मार्ग।

नगर के भीतरी मार्ग—

(१) **राजपथ**—सोलह गज चौड़े।

(२) **रथ्यापथ**—आठ गज चौड़े।

(३) **रथपथ**—ढाई गज चौड़े।

(४) **पशुपथ**—दो गज चौड़े।

(५) **क्षुद्रपशुपथ या मनुष्यपथ**—एक गज चौड़े।

नगर के बाहरी मार्ग—

(१) **राष्ट्रपथ**—राजधानी से बड़े-बड़े नगरों में जाने वाला मार्ग।

(२) **विवीतपथ**—चरागाह को जानेवाला मार्ग।

(३) **द्रोणमुखपथ**—चार सौ गांवों के केन्द्रीय नगर का मार्ग।

(४) **स्थानीयपथ**—आठ सौ गांवों के केन्द्रीय नगर को जाने वाला पथ।

(५) **संयनीपथ**—व्यापारिक मंडियों का मार्ग।

(६) **ग्रामपथ**—गांवों को जाने वाला मार्ग।

ये सभी मार्ग सोलह-सोलह गज चौड़े होते थे।[३] राजपथ या बड़े मार्गों के दोनों किनारों पर छायादार वृक्ष लगाये जाते थे। स्थान-स्थान पर जलाश्रयों का निर्माण किया जाता था। यह व्यवस्था राज्य द्वारा या विशिष्ट व्यक्तियों

---

१. भाग १ पृ. १५४,१५५; भाग २ पृ. ४१४,४१५।

२. देखो पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ. २३६।

३. कौटिल्य के आर्थिक विचार—ले. गगनलाल गुप्त, भगवानदास बेला, अध्याय १६ पृ. ९९।

द्वारा होती थी। ये मार्ग सम और उपद्रव रहित होते थे।[१] नगर के प्राकार के अंतराल में आठ हाथ चौड़ा मार्ग होता था। उसे 'चरिका' कहते थे।[२]

पाणिनि ने एक विशेष सूत्र में 'उत्तरपथ' का उल्लेख किया है। 'उसका एक भाग उत्तर भारत में गन्धार से पाटलिपुत्र तक तथा दूसरा भाग गन्धार की राजधानी पुष्कलावती से चलकर तक्षशिला होता हुआ, मार्ग में सिन्धु-शतद्रु-यमुना पार करके, हस्तिनापुर-कान्यकुब्ज-प्रयाग को मिलाता हुआ पाटलिपुत्र तथा ताम्रलिप्ति को चला जाता था। इस मार्ग पर यात्रियों के ठहरने के लिए निषद्याएं, जल के लिए कूप और छायादार वृक्ष लगे हुए थे।'[३]

कई मार्ग अत्यन्त विषम और पत्थरों तथा ऊंटों से आकीर्ण होते थे। वे विषमोन्नत मार्ग यात्रा के लिए अत्यन्त दुःखप्रद होते थे। जगह-जगह गढ़े और नदी-नालों के कारण यातायात कठिन होता था।[४]

एक देश से दूसरे देश में जाने के मार्ग निश्चित होते थे।[५] वे मार्ग अत्यन्त विपुल, सीधे और प्रत्येक वाहन के लिए सुविधाजनक होते थे।

यान-वाहन

हाथी, घोड़े, ऊंट, गधे और बैल यातायात के मुख्य साधन थे। रथों में हाथी, घोड़े और बैले जोते जाते थे।[६] ये तीन प्रकार के रथ यातायात में काम आते थे। श्रीमन्त व्यक्ति हाथी और घोड़ों के रथ पर चढ़कर आते जाते थे। सर्वसाधारण के लिए बैलों के रथ काम में आते थे। क्रीड़ा के लिए जाते समय इन रथों का विशेष उपयोग होता था। आज की भांति लोग पिकनिक (Picnic) के लिए उद्यानों में जाते थे।[७]

वैदिक साहित्य में रासभ-रथ तथा अश्वतरीय रथ, औष्ट्ररथ आदि का

१. १।११ वृ. पत्र १९८।
२. चरिका नगरप्राकारान्तरालेऽष्टहस्तप्रमाणो मार्गः—प्रश्नव्याकरणद्वार १, पत्र १३।
३. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ. २३६।
४. १।११ वृ. पत्र १९९
५. देशाद् विवक्षितदेशान्तरप्राप्तिलक्षणः पन्थाः—१।११ वृ. पत्र १९९, २००।
६. हत्थस्सरहजाणेहिं.........१।३।२।१६।
७. विहारगमणेहि य—(वृ.) उद्यानादौ क्रीडया गमनानीत्यर्थः—१।३।२।१६ वृ. पत्र ८८।

उल्लेख हआ है।[१]

महानिद्देश में भी औष्ट्रयान तथा खरयान एवं जातक (५।३५५) में अस्सतरीय रथ का उल्लेख है। रथ बनाने वाले को 'रथकार' कहा जाता था।[२]

वहन और वाहन—ये दो शब्द प्रचलित थे। नौका, जहाज आदि को 'वहन' और शकट, रथ आदि को 'वाहन' कहा जाता था।[३]

मुख्य वाहन[४]

१. **शकट**—माल ढोने के काम में आने वाली गाड़ियां 'शकट' कहलाती थीं। बैलों से खींची जाने के कारण उन्हें 'गो-रथ' भी कहा जाता था। बोझा ढोने की बड़ी गाड़ी या 'सग्गड' को शकट कहते थे।

२. **रथ**—यह विशेषरूप से आवृत होता था, जिससे कि धूप और हवा से बचाव हो सके। इसमें बैठने की विशेष सुविधाएं होती थीं और ये केवल सवारी के ही काम आते थे। आज भी राजस्थान में रथ की सवारी यत्र-तत्र होती है। सांग्रामिक और देवयान—ये दो प्रकार के रथ प्रसिद्ध थे। सांग्रामिक रथ की वेदिका कटिप्रमाण होती थी।[५]

पुरुषों के सबसे अधिक उपयोग में आने वाला यान रथ था। नागरिकों के दैनिक कार्य-कलाप रथों पर ही निर्भर थे। रामायण में तीन प्रकार के रथों का उल्लेख है।[६]—

(१) **औपवाह्य रथ**—प्रतिदिन की सवारी में काम आने वाला रथ।

(२) **सांग्रामिक रथ**—युद्ध के समय काम में आने वाला रथ।

(३) **पुष्परथ**—उत्सवों में काम में आने वाला रथ।

३. **युग्य**—यह मनुष्यों द्वारा वाहित होता था। इसे 'आकाशयान' भी कहते थे। यह एक विशेष प्रकार की गाड़ी थी, जो कि गोल्लदेश (कृष्णा-गोदावरी के बीच गोली) में प्रचलित थी।[७] नवांगो टीकाकार अभयदेवसूरी ने

१. पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ. १५२।
२. १।४।१।९—रहकारो.....
३. वहनानि यानपात्राणि, वाहनानि शकटादीनि—प्रश्नव्याकरण द्वार १ वृ. प. १३।
४. सगडरहजाणजुग्गगिल्लिसिया संदमाणि—२।२।३५, वृ. पत्र ७३।
५. प्रश्नव्याकरण द्वार १ वृ. पत्र १३।
६. रामायणकालीन समाज, पृ. २४६।
७. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ. १५२।

(प्रश्नव्याकरण सूत्र द्वार १ वृ. पत्र १३ में) इसका अर्थ—गोल्लदेश में प्रसिद्ध, दो हाथ प्रमाण वाला, वेदिका से उपशोभित 'जम्यान' (पालकी) विशेष किया है।

४. **डोल्ली**—दो पुरुषों से उठाई जाने वाली पालकी।

५. **थिल्ली**—एक विशेष प्रकार का यान जिसे खच्चर खींचते थे। संभव है यही 'अश्वतरीय-रथ' रहा हो।

६. **शिबिका**—पालकी विशेष। यह पर्वतीय-स्थलों का मुख्य वाहन था। धीरे-धीरे यह श्रीमन्तों के यहां, गांव में इधर-उधर जाने के लिए भी काम में आने लगा। अभयदेवसूरी के अनुसार हजार पुरुषों द्वारा वाहनीय, कूट के आकार वाली, शिखर से आच्छादित पालकी विशेष को 'शिबिका' कहा जाता था।[१]

बूढ़े बैल भी शकट में जोते जाते थे। गधों पर माल ढोया जाता था।[२] भारुण्डपक्षी भी यातायात में काम आते थे।

घोड़े, ऊंट, हाथी, बैल और गधों के लिए भिन्न-भिन्न मकान होते थे, जिन्हें—उष्ट्रशाला, हस्तिशाला, बैलशाला, घोटकशाला, गर्दभशाला आदि कहा जाता था।

हाथी और घोड़ों को शिक्षित करने के लिए अलग-अलग विशेषज्ञ होते थे।

कर्मकरों के प्रकार—

१. **दास**—खरीदा हुआ या अपनी दासी का पुत्र। दास के अनेक प्रकार होते थे, जैसे—गर्भकाल में—१. अपने दोहद के लिए अपने प्रियतम पर दास की भांति शासन करना। २. काम-भोग के लिए भ्रष्ट बने हुए दास।

२. **प्रेष्य**—जिसे कार्यवश बाहर भेजा जाय वैसा नौकर।

३. **भृतक (भृत्य)**—वेतन लेकर पानी आदि लाने का कार्य करने वाला।

पाणिनि ने गणपाठ में अनेक प्रकार के भृत्यों का उल्लेख किया है—

---

१. **शिबिका—पुरुषसहस्रवाहनीयः कूटाकारशिखराच्छादितो जम्यानविशेषः—प्रश्नव्याकरण द्वार १ पत्र १३।**

२. **उज्जाणंसि जरग्गवा—१।३।२।२१, वादूच्छिन्ना व गद्दभा १।३।४।५।**

१. परिचारक २. परिषेचक ३. उत्सादक ४. उद्वर्तक ५. प्रलेपिका ६. विलेपिका ७. अनुलेपिका ८. अनुचारक ९. मणिपाली १०. द्वारपाली ११. दण्डग्राह १२. चामरग्राह।

४. भागिक–भागीदार, जो कृषि आदि में छठे अंश की भागीदारी में संपृक्त होता था।

५. कर्मकर–वे व्यक्ति जो दूसरों का कार्य कर आजीविका चलाते थे, राजघरों में वेठ करते थे वे कर्मकर कहलाते थे।

६. भोगपुरुष–वे व्यक्ति जो किसी नेता के आश्रित अपना जीवन चलाते थे।

दण्ड के प्रकार–

उस समय अपराधी व्यक्ति को दंडित करने के लिए दण्ड के अनेक प्रकार थे–

१. बेड़ी से बांधना–अपराधियों को बेड़ी से बांधा जाता था।

२. बन्दी बनाना–बन्दी बनाकर अपराधियों को कारावास में डाला जाता था। वहां जूं, खटमलों आदि का उपद्रव रहता था।

३. दो जंजीरों से सिकोड़ कर लुढ़काना–कुछेक अपराधियों को कारावास में डालकर दो, तीन या सात सांकलों से बांधकर रखा जाता था। उसके हाथ-पैर और गले में सांकल डाल दी जाती थी।

४. हाथ काटना–चूर्णिकार ने इस विषय में कई महत्त्वपूर्ण सूचनाएं दी हैं–

● अपहरण करने वाले के कान, नाक, ओठ काट दिए जाते थे।

● जो गुप्तचर और दूत शत्रु राज्यों में आते-जाते थे उनके कान, नाक और ओठ छेद दिए जाते थे।

● यदि स्त्रियां यह काम करती तो उनका सिर काट दिया जाता था।

● अधर्म का आचरण करने वाले की जीभ तलवार से काट दी जाती थी। कन्धों का हनन कर वे ब्रह्मसूत्र से काट दिए जाते थे। जीवित व्यक्ति का हृदय, जीभ आदि निकाल दी जाती थी।

५. कूए आदि में लटकाना–कूए में लटकाना, पर्वत के नीचे फेंकना

अथवा नदी और तालाब में डूबोना आदि दण्डों के द्वारा भी अपराधियों को दण्डित किया जाता था।

६. **शूली में पिरोना**–अपानमार्ग से शूल लगाकर उसे मुंह से निकाला जाता था।

७. **नमक छिड़कना**–शस्त्र से शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर नमक आदि क्षार पदार्थों को शरीर पर छिड़का जाता था।

८. **जननेन्द्रिय काटना**–प्राचीनकालीन दण्डपद्धति के अनुसार पारदारिक व्यक्ति की जननेन्द्रिय काट दी जाती थी।

९. **अंडकोशों को तोड़कर मुंह में डालना**–उस समय परस्त्रीगामी अपराधी को दंड देने के लिए अपराधी के अंडकोशों को तोड़कर उसी के मुंह में डाल दिया जाता था। इस दण्ड से उसे अपार कष्ट होता था और वह जीवनभर के लिए मैथुनप्रवृत्ति के लिए अयोग्य हो जाता था।

१०. **मांस खिलाना**–अपराधी के शरीर को काटकर काकिणी सिक्के जितने छोटे-छोटे मांस-टुकड़ों को भी अपराधी को खिलाने की प्रथा प्रचलित थी।

इस प्रकार सूत्रकृतांग के अध्ययन से उस समय में प्रचलित अनेक परम्पराओं और सभ्यताओं का बोध होता है और सहज ही आगमकालीन परम्परा और संस्कृति उजागर हो जाती है।

३५. निशीथ भाष्य के कुछ शब्द-चित्र

शिष्य ने पूछा–'भगवन्! कोई व्यक्ति अनेक अपराध करता है तो क्या उसे प्रत्येक अपराध के लिए भिन्न-भिन्न दंड दिए जाते हैं या एक ही?'

आचार्य ने कहा–'वत्स! दंड देने की विधि एक नहीं है। अनेक प्रकार से दंड दिया जा सकता है। सभी अपराधों का एक दंड भी हो सकता है और अलग-अलग भी।' शिष्य ने पूछा–'यह कैसे, भगवन्?'

आचार्य ने कहा–'सुनो! एक रथकार था। उसकी स्त्री ने अनेक अपराध किए। रथकार इससे अनजान था। एक बार रथकार बाजार गया हुआ था। स्त्री अपना घर खुला छोड़कर पड़ोसी के घर में जा बैठ गई। घर को खुला देख

एक सांड उसमें घुसा। इतने में ही रथकार वहां आ पहुंचा। उसने अपावृत घर और सांड को देखा। उनकी पत्नी भी आ गई। रथकार ने पत्नी का अपराध समझकर उसे पीटा। पत्नी ने सोचा—इन दिनों मैंने और अनेक अपराध किए हैं। यदि मेरे पति को सारे ज्ञात होंगे तो वह मुझे बार-बार पीटेगा। अच्छा हो मैं सारे अपराध प्रकट कर दूं। उसने कहा—

'बछड़ा गाय का स्तनपान कर गया है, आप द्वारा लाया गया कांस्य भाजन भी टूट गया। आपका वस्त्र भी कोई चुराकर ले गया—आप मुझे जितना पीटना चाहें उतना पीट लें।'

इतना सुनकर रथकार ने उसे एक ही बार में खूब पीटा।

इसी प्रकार अनेक अपराधों के लिए एक प्रायश्चित भी हो सकता है।

एक चोर था। उसने अनेक बार चोरियां कीं—किसी के बर्तन चुराए, किसी के वस्त्र, किसी के सिक्के और किसी का सोना। एक बार उसने राजमहल में सेंध लगाई और रत्न चुराकर बाहर निकला। आरक्षकों ने पकड़कर उसे राजा के समक्ष उपस्थित किया। दूसरे लोगों ने भी उस पर चोरी का आरोप लगाए। राजा ने सोचा, इसने राजमहल से रत्न चुराए हैं। यह चोरी गुरुतर है। राजा ने दूसरी सारी चोरियों की उपेक्षा कर इस गुरुतर चोरी के लिए उसे मृत्युदंड दिया।

इसी प्रकार अनेक छिटपुट अपराधों की उपेक्षा कर गुरुतर अपराध को मुख्य मानकर प्रायश्चित दिया जा सकता है।

आचार्य ने कहा—'शिष्य! कभी-कभी विशेष प्रयोजनवश अपराधों को क्षमा भी करना पड़ता है। एक गण है। आचार्य ग्लान हो गए। जो आचार्य बनने योग्य है, उसे अनेकविध प्रायश्चित प्राप्त हैं और वह उन्हें वहन कर रहा है। ऐसी स्थिति में उसके प्रायश्चितों को क्षमा कर उसे आचार्य पद दिया जाता है।

'एक नगर का राजा मर गया। उसके कोई पुत्र नहीं था। राज्य-चिन्तकों ने देवपूजन कर एक हाथी और एक घोड़े को सजाया और दोनों को नगर में छोड़ दिया।

उसी नगर में उसी दिन मूलदेव नाम का एक व्यक्ति चोरी करते पकड़ा गया। आरक्षकों ने उसे मृत्युदंड दिया और वध्य मानकर उसे नगर में घुमाने लगे। उसके साथ अठारह व्यक्ति थे। हाथी और घोड़े दोनों घूमते-घूमते

मूलदेव के पास आ रुके। घोड़ा हिनहिनाया और पीठ ऊंची की। हाथी ने गर्जना की और सूंड से पानी ले मूलदेव को अभिषिक्त कर उसे पीठ पर चढ़ा लिया। सामुद्रिक आए और मूलदेव को राजा घोषित कर दिया और वह राजा बन गया। वह सभी अपराधों से मुक्त हो गया।'

शिष्य ने पूछा—'भंते! दो व्यक्ति एक-जैसा अपराध करते हैं, क्या उन्हें एक-सा दंड दिया जाएगा? आचार्य ने कहा—'वत्स! दंड के निर्णय में अनेक दृष्टियों से सोचना पड़ता है—धृति, संहनन, क्षेत्र, काल, अध्यवसाय आदि को ध्यान में रखना होता है।'

आचार्य ने आगे कहा—'देखो! दो व्यक्ति छह-छह महीनों का प्रायश्चित वहन कर रहे हैं। एक व्यक्ति को प्रायश्चित प्रारम्भ किए केवल छह दिन हुए हैं और दूसरे व्यक्ति के प्रायश्चित-समाप्ति के केवल छह दिन शेष हैं। इस प्रायश्चित-वहन के अंतराल में दोनों ने छह मास का प्रायश्चित आए, ऐसा दूसरा अपराध कर लिया। ऐसी स्थिति में आचार्य पहले व्यक्ति को, जिसे पूर्व के प्रायश्चितों को वहन करते हुए केवल छह दिन ही बीते हैं, दूसरा प्रायश्चित भी पहले प्रायश्चित के अंतर्गत कर केवल छह मास का ही प्रायश्चित देंगे। दूसरे व्यक्ति को, जिसके छह महीनों में छह दिन बाकी हैं और छह मास का प्रायश्चित देंगे। इस प्रकार उसे लगभग एक वर्ष तक प्रायश्चित वहन करना होगा।' शिष्य ने कहा—यह राग-द्वेष क्यों?

आचार्य ने कहा—'यह राग-द्वेष नहीं है। सुनो—किसी व्यक्ति ने अग्नि जलाना प्रारम्भ किया। प्रारम्भ में ही उसने काठ के बड़े-बड़े लकड़े उसमें डाले। अग्नि उन्हें जलाने में असमर्थ थी। वह तत्काल बुझ गई।

दूसरे व्यक्ति ने भी अग्नि जलाना प्रारम्भ किया। उसने प्रारम्भ में उपले के छोटे-छोटे टुकड़े, लकड़ी का चूरा आदि डाला। अग्नि जल उठी। जब वह दीप्त हो गई तब उसने उसमें बड़ी-बड़ी लकड़ियां डालीं। वे भी जल गईं। इसी प्रकार प्रायश्चित वहन करने वाला पहला व्यक्ति पहली अग्नि के समान है और दूसरा व्यक्ति दूसरी अग्नि के समान। पहले व्यक्ति को पूर्व अपराध के परिणामस्वरूप छह मास का प्रायश्चित है। उसे वहन करते केवल छह दिन बीते हैं और उस अंतराल में उसे यदि दूसरे छह मास का प्रायश्चित दिया जाए तो उसका उत्साह क्षीण हो जाता है। वह खिन्न हो जाता है और संयम से उन्मना

हो सकता है। पहली अग्नि की भांति असमय में ही बुझ जाता है।

दूसरा व्यक्ति, जो छह मास से प्रायश्चित वहन कर रहा है, केवल छह दिन शेष हैं, उसे यदि दूसरे छह मास का प्रायश्चित दिया जाए तो वह दुगुने उत्साह से उसका वहन करेगा, क्योंकि उसे तपोलब्धि प्राप्त है तथा उसका धैर्य भी पक चुका होता है। वह दूसरे प्रकार की अग्नि की तरह है, जो बड़े-बड़े लकड़ों को भी भस्मसात् कर देती है।

• • •

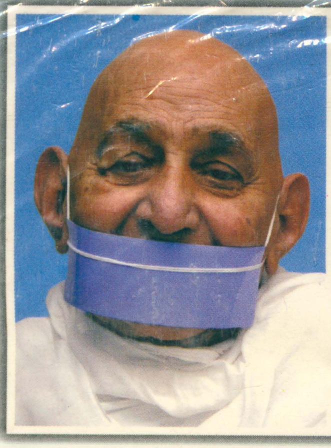

आगममनीषी मुनि दुलहराज

जीवन परिचय

जन्म : १४ जुलाई १९२२, कोलार गोल्ड फील्ड (कर्नाटक)

दीक्षा : २५ अक्टूबर १९४८, छापर (राज.)

शिक्षानिकाय : ८ फरवरी १९६६, डाबड़ी (राज.)

साझपति : २९ अक्टूबर १९८१, अणुव्रत विहार, दिल्ली

आगममनीषी : २७ जनवरी २००४, जलगांव (महाराष्ट्र)

बहुश्रुत परिषद् सदस्य : १६ सितम्बर २०१०, सरदारशहर (राजस्थान)

चिर प्रयाण : १९ जनवरी २०११, श्रीडूंगरगढ़ (राजस्थान)

विशेष : दीक्षा दिन से निरन्तर आचार्य महाप्रज्ञ की सेवा में रहे। आगम-शोध कार्य में प्रारम्भ से ही संलग्न। आचार्य महाप्रज्ञ के शताधिक पुस्तकों के सम्पादक। तेरापंथ धर्मसंघ में प्रथम अंग्रेजी के ज्ञाता। हिन्दी-संस्कृत-प्राकृत-गुजराती-कन्नड़ आदि भाषाओं के प्रतिभासंपन्न विद्वान्। शतावधानी, साहित्यकार, चिन्तक, वक्ता, कविचेता और लेखनी के धनी। सुदूर यात्राओं में अविरल सहयात्री।

विज्जा चरणं पमोक्खो
जैन विश्व भारती लाडनूं

ISBN 81-7195-183-X
9788171951833
₹ 70.00/-